योग और तत्त्वज्ञान



साधु श्रीप्रज्ञानाथजी



ॐ

पूज्यपाद श्री १०८ स्वामि घनश्यामानंदजी महाराजकी सेवामें समर्पित १.६.८५.

योग और तत्त्वज्ञान

साधु श्रीप्रज्ञानाथजी

योग और तत्त्वज्ञान

साधु श्रीप्रज्ञानाथजी महाराज प्रणीत

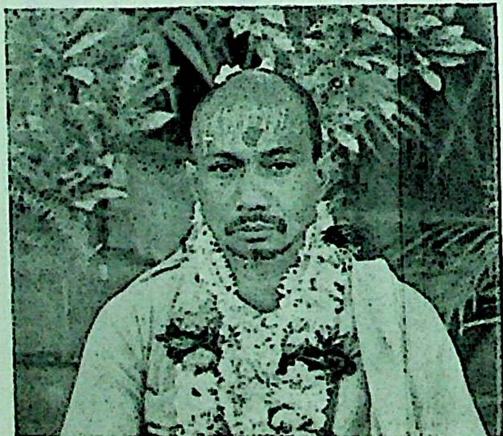
पो. अ. उत्तरकाशी, योगाश्रम-ज्ञानसू
टेहरी गढ़वाल स्टेट (हिमालय)

प्रकाशकोंके नाम और पता—

१ श्रीमत् शेठ रतीलाल वर्धमानजी (राणपुर)
२ „ „ मनोरदास पानाचंदजी („)
३ „ „ भगत उजमशी सोमचंदजी („)
४ सविताबाई श्रीमान सेठ रतीलाल भानजीकी लडकी
भावनगर मामाकोठा रोड (काठियावाढ़)
५ श्रीमत् शेठ जेठानंद घनराजमल कराचीवाला,
चन्द्र चौक, आठवी गली, मूळजी जेठा मार्केट, बम्बई नं. २

वि० सं० २००० चैत्र


श्री १०८ ईश्वर मठ
पुस्तकालय,
मुमुक्षु भवन, अस्सी, काशी



श्री १०८ स्वामी प्रज्ञानाथजी, गंगोत्री

योगभूमिका ।

योगशास्त्र बहुत पुरातन और श्रुतिमूलक होनेसे सर्व आस्तिक तथा हिन्दुधर्मावलम्बियोंसे गृहीत हुआ है । योग शब्दकी बहुत स्थानों में नाना भावों के अर्थके साथ व्याख्या मिलती है । गीतामें विषाद का भी नाम योगनामसे प्रथमाध्यायके अन्तमें मिलते हैं । यथा, विषादयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, परमसंन्यासयोग, अध्यात्मयोग, ज्ञान-विज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगुह्ययोग, विभूतियोग, विश्व-रूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तम-योग, देवासुरसम्पद्विभागयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग और मोक्षसंन्यास-योग—ये अष्टादशयोगों के नाम मिलते हैं । उनको साधारणतया तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है । जैसे कि—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग; उनमें भी प्रथमयोग द्वितीयका और द्वितीय तृतीय भक्ति-योगका सहकारी होकर अङ्गभूत होते हुए सब योग केवल ज्ञानयोग-केही वास्ते कहे गये हैं । बिना ज्ञानके आत्यन्तिक दुःखोंकी निवृत्ति न होनेके कारण ही सर्व दार्शनिकोंने ज्ञानोत्पत्त्यर्थ अनेक भिन्न २ उपाय रूप दर्शन शास्त्र बनाये हैं । दर्शनशास्त्रों की संख्या अधिक होने से भी आस्तिक हिन्दु दर्शनोंके बीचमें षड्दर्शनों की ही प्रसिद्धि है । उनमें भी सांख्यदर्शनका परिपूरक रूपसे पातञ्जलदर्शन; वैशेषिक दर्शनका परिपूरकरूपसे गौतमका न्याय, और पूर्वमीमांसाका परिपूरक रूपसे उत्तरमीमांसा की प्रवृत्ति हुई है, इसप्रकार विदित होते हैं । दर्शनाचार्य जो कपिल, उन्होने अपने सांख्य दर्शनमें ईश्वरकी अस्ति-त्वता स्वीकार नहीं की । वे भागवतमें कहे देवहूतीके पुत्र 'कर्दमात्मज' जो कपिल थे वे है कि नहीं इस विषयपर बहुत लोगोंको संशय होता है । भागवतोक्त कपिलजीने कालको ही ईश्वर माना है । उनके सांख्यशास्त्र में ईश्वरका स्थान है क्यों कि वे भगवान के अवतार थे । वे अवतार होकर ईश्वरको अस्वीकार नहीं कर सकते । सांख्यकार कपिलने प्रधानको

ही जगत्का उपादान कारण माना है। पुरुष उदासीन असङ्ग द्रष्टा होनेसे निमित्त या उपादान कारण नहीं हो सकता। वह केवल सान्निध्यमात्र करके ही उपकारी हैं। महर्षि पतञ्जलिके मत में ईश्वर जगत्का निमित्त कारण है। सांख्यप्रोक्त २४ तत्त्व प्रधानसे उत्पन्न हुए हैं। यह मत पतञ्जलि महर्षिको भी मान्य है। अतएव पातञ्जल दर्शन को सांख्यका प्रवचन कहा जाता है।

"एतेन योगः प्रत्युक्तः।" २।१।३॥ ब्र० सू०।

इस सूत्रमें भगवान् व्यासजीने ब्रह्म सूत्रके द्वितीयाध्यायमें सांख्यका खण्डन करके योग भी खण्डित हुआ माना है।

उन्होंने सांख्यके साथ वेदान्तमतका जिस २ विषयमें तत्त्वगत वैषम्य देखा है उसीको ही खण्डित किया, याने उसकाही खण्डन किया। किसीका मत यह है कि ब्रह्मसूत्रकार व्यासजी ही पातञ्जल योगदर्शन के भाष्यकार हैं। योगशास्त्र का यदि उन्हें खण्डन करना होता तो उसका भाष्य ही क्यों करते? श्रुतिविरुद्ध बहु-जीववाद, प्राकृतिक स्वातन्त्र्यवाद, अचेतन प्रधानसे जगत् की उत्पत्ति वाद—प्रभृति विषय ही महर्षि वेदव्यासके खण्डनका विषय हैं। अष्टांगयोग तथा योगसिद्धियां उनके खण्डनका विषय नहीं है। अन्यदर्शनोंसे योगदर्शनकी विशेषता ये है कि जीवित काल में ही साधक योगज-अलौकिक सिद्धिका अनुभव करके दुःख से बच सकता है। व्यासभाष्यके तृतीयपादमें भाष्यकार उपहास करके पण्डकोपाख्यानसे कहते हैं कि पण्डककी स्त्री अपने पतिको पूछती है कि आर्यपुत्र! मेरी बहिन पुत्रवती है, और मेरा पुत्र नहीं है, इसका क्या कारण है? तब पण्डक कहता है कि प्रिये! निश्चित रहो सोच मत करो मैं ही मरकर तेरा पुत्र उत्पन्न करूंगा। इस आख्यानका तात्पर्य यह है कि जीवितकालमें ही जिसके दुःखकी निवृत्ति नहीं हुई तो फिर क्या फिर दुःखकी निवृत्ति मरने बाद मानी जायेगी? कभी नहीं।

योगसे जीवित शरीरमें ही मोक्ष होता है। एवं योगज सिद्धियां पुरुषकारसे साधक अपने जीवनमें ही अनुभव करके कृतार्थ हो सकता है। लौकिक उपायद्वारा योगज सिद्धियां नहीं मिल सकती। अतएव वह अलौकिक कही गई और वह लोकसाध्य नहीं ऐसा नहीं है— किन्तु सब लोककरके असाध्य हैं।

महर्षि पतञ्जलिके बारेमें ऐसी किंवदन्ती सुनी जाती है कि भगवान् शंकरने सहस्रानन शेषनाग को पृथ्वीपर अवतार लेनेके लिये प्रेरणा की थी। तब उन्होंने उपयुक्त स्थान ढुंढते २ गोनर्द देशमें किसी गोनिका नाम्नी तपस्विनीको पुत्रके निमित्त सूर्यकी आराधना करती हुई देखी। उसमें निरुपम तेज तथा भक्ति देखकर अपनी माता मानकर सूर्यार्घ्य-दान कालमें उसकी अञ्जलिमें प्रवेश किया। सूर्यार्घ्य समर्पण करतेही तपस्वीका रूप धारण करके अनन्तजी जलके साथ ही भूमि में गिर पडे। उनकी तेजोमय आकृति देखकर यह मेरा पुत्र है, इस प्रकार मानकर माताने अञ्जलिसे गिरा जानकर उनका नाम पतञ्जलि रक्खा। क्रमशः बडे होकर लोकोपकार-दीक्षित पतञ्जलिने पाणिनीयाष्टाध्यायीका महाभाष्य निर्माण किया—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

इस श्लोकसे जाना जाता है कि व्याकरणके महाभाष्यकार वैद्यशास्त्रके प्रणेता और योगदर्शनके रचयिता एक ही पतञ्जलि हुए। उन्होंने शरीर शुद्धिके उपाय रूपसे वैद्यशास्त्रको, वाणीमल दूर करनेको व्याकरण महाभाष्य और मनके मल दूर करनेके लिये योगशास्त्र बताया। इस विषयमें बहुजन संशय होनेपर भी योगशास्त्र स्वतन्त्र रूपसे मोक्षका साधनोपाय है, इसमें किसीका भी मन द्वैधी (भावगत) नहीं है। वह उपासनाका ही मार्ग है। श्रुतिमें इसका विशेष वर्णन देखा जाता

है। ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करके चित्तशुद्धि संपादन करनेके बाद वैराग्य प्राप्ति क्रमसे मोक्षके साधन होनेमें भी कोई बाधा नहीं है। योगमें सर्व मनुष्यमात्रका अधिकार है। सबही ज्ञानके अधिकारी नहीं हो सकते। किन्तु विरक्त और संन्यासी के लिये ही ज्ञानमार्ग सुगम है। जो विशेष आसक्त व अनासक्त न हो ऐसे मुमुक्षुके लिये ही योगमार्ग है। आसक्त पुरुषके लिये कर्मकाण्डोक्त सकाम कर्मोंकी व्यवस्था की गई। इसलिये योगशास्त्र मध्यम अधिकारीके लिये ही निर्मित हुआ।

योगद्वारा मनोमल दूर होनेसे विवेक ख्याति (ज्ञान) उत्पन्न होता है। उससे वैराग्य और परम वैराग्यसे संसारसे मुक्ति होती है। यह मैं पहले ही कथन कर चुका हूं कि पातञ्जलदर्शन सांख्यका प्रवचन है। अतएव सांख्यशास्त्रका सामान्य रूपसे परिचय न होनेसे इस शास्त्रका मर्म समझना अति कठिन है।

सांख्य शास्त्रमें छः अध्याय हैं। वहां प्रथमाध्यायमें हेय, हेयहेतु, हान, हानहेतु ये चार हेतु प्रतिपादन किये गये। दुःख हेय, दुःखका कारण अविवेक, त्रिविध दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हान, और प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यके साथ पुरुषका सम्यक् ज्ञान या भेद ज्ञान हानका हेतु है। द्वितीयाध्यायमें प्रकृति और उसके कार्यका परिचय दिया है। तृतीयाध्यायमें संसारका कारण बतलाया है। चतुर्थमें विवेक ज्ञान साधनका उपदेश किया है। पञ्चमाध्यायमें शङ्का समाधानसे दूसरे मतका खण्डन किया। एवं षष्ठाध्यायमें उपसंहार किया है। आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक ये त्रिविध दुःखोंका नाम ही बन्ध है। और उनकी निवृत्तिका नाम ही मोक्ष है। वह बन्ध पुरुषका स्वाभाविक दोष नहीं है। यदि स्वाभाविक हो तो फिर कभी उससे निवृत्ति नहीं हो सकती। तथा उसके निमित्त उपदेश भी फजुल हो सकते हैं। सांख्यका पुरुष विभु-निष्क्रिय नित्य शुद्ध बुद्ध और नित्य मुक्त है। बिना प्रकृतिके सम्बन्धसे पुरुषको बन्ध या दुःख नहीं हो सकता और प्रकृति

पुरुषका संयोग फिर अविवेक करके होता है। और वह होना भी है। पुरुषप्रकृतिके साथ अविभक्त भावसे जो अवस्थान करता है वही पुरुषके बन्धन व संसारके बन्धनका कारण है। बुद्धिसत्त्वका जो प्रतिबिम्ब पुरुषमें पडता है उससे पुरुष अपनेको सुखी दुःखी और मूढ मानकर काल्पनिक दुःखादिसे बन्धनको प्राप्त होता है। विवेकसे ही अविवेक का नाश होता है। प्रकृतिका अविवेक ही सारे अविवेक का कारण है। अतएव प्रकृतिका अविवेक नष्ट हो तो सारे अविवेक नष्ट हो जाते हैं। विवेक साक्षात्कार जबतक नहीं होता तबतक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। विवेक्तव्य पदार्थोके सम्यग्ज्ञानसे याने २५ तत्त्व पदार्थोंका स्वरूप साक्षात्कार करके दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। उत्तम अधिकारी को तो उक्त विवेक श्रवण मात्रसे ही हो जाता है। मध्यम अधिकारीको श्रवणके बाद मनन करनेसे वस्तु विवेक ज्ञान होता है। और अधम अधिकारीको तो श्रवण, मनन, निदिध्यासनसेही तत्त्वज्ञान होता है। सांख्यके ये २५ तत्त्व हैं—प्रकृति–महान–अहंकार–शब्दतन्मात्र–स्पर्शतन्मात्र–रूपतन्मात्र–रसतन्मात्र–गन्धतन्मात्र–श्रोत्र–त्वचा–चक्षु–रसना–घ्राण–वाक्–पाणिपाद–पायु–उपस्थ–मन–आकाश–वायु–तेज–जल–पृथ्वी। योगशास्त्रके मतमें अविद्या आदिक पांच क्लेश पुरुषको दुःखरूप होनेसे उसकी निवृत्तिके लिये पुरुष हरवक्त प्रयत्न करता है। अविद्या ही सर्व क्लेशोंका मूल है। क्लेश रहनेसे वासनात्मक धर्माधर्मरूप कर्माशय होता है। क्लेशकर्म और कर्मसे जाति–आयु–भोग चक्रकी तरह घुमते रहते हैं। पुण्यकर्मसे अज्ञानीको सुख और पाप कर्मसे दुःख होता है। विवेकी पुरुषके लिये तो सभी दुःखरूप है। क्यों कि परिणाममें ताप संस्कार और गुणवृत्तिका विरोध करके विवेकी सबमें दुःख ही मानता है। जो दुःख अभी नहीं आया वह ही हेय है अर्थात् भावि दुःख निवृत्तिके लिये ही यत्न होना है। द्रष्टा और दृश्यका अर्थात् पुरुष और बुद्धिका

भोक्तृत्व और भोग्यत्व लक्षण रूप संयोग विशेष ही दुःखका कारण है। पुरुष वस्तुतः द्रष्टा न होनेसे भी बुद्धि वृत्तिमें प्रतिबिम्बित होकर द्रष्टा की तरह प्रकाशमान होता है। प्रकाश स्वभाव सत्त्व, और क्रियाशील रजो गुण यह दोनों को रोकनेवाला तमः—ये त्रिगुणात्मक जो भूतेन्द्रिय और करण हैं उन्हीको दृश्य कहा जाता है। पुरुषको भोग व अपवर्ग देना दृश्यका उद्देश्य है। गुणकी विशेष अविशेष लिङ्ग मात्र और अलिङ्ग—ये चार अवस्थायें हैं। पृथिव्यादि भूत और इन्द्रियां ये विशेष अवस्थायें हैं। तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत और अहङ्कार अविशेष अवस्थायें हैं। मूलप्रकृतिका पहला परिणाम बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्व या लिङ्गावस्था और प्रकृतिको ही अलिङ्गावस्था कहा है। द्रष्टा और दृश्यका संयोगके कारण अविद्या है। विद्यासे ही अविद्याका अभाव होता है। अविद्याके अभावसे ही उसका कार्य संयोग भी नहीं रहता। इसीका नाम ही हान तथा पुरुष का कैवल्य है।

विवेक ख्याति ही हान का उपाय है। अष्टाङ्गयोग यदि यथाविधि किया जाय तो उक्त विवेक ख्याति की अभिव्यक्ति होती है। बाह्य पदार्थ चित्तका प्रकाश्य हैं और वह (चित्त) आत्माद्वारा प्रकाशित होता है। बाह्य पदार्थ इन्द्रियप्रणालीसे चित्तमें उपरक्त न होनेसे प्रकाशित नहीं होता, किन्तु पुरुष या आत्मा के पास चित्त वैसा ज्ञेय नहीं है। चित्त हरवक्त पुरुषके ज्ञेय है। अर्थात् पुरुष हरवक्त चित्तको जानता है। चित्त परिणाम स्वभाववाला है। अतएव उसकी क्षिप्तादि अवस्था तथा प्रमाणादि वृत्तियां जब उसमें उदित होती हैं तभी पुरुषमें उसका प्रतिफलन व प्रकाश होता है। चित्त परिणामशील, पुरुष अपरिणामी। चित्त चित्तका दृश्य नहीं हो सकता; यदि ऐसा हो तो अनवस्थापत्ति होगी। एवं स्मृतिसंकर दोषापत्ति भी हो जायगी। चित्त संहत्यकारी अर्थात् सहकारीयोंके साथ मिलकर या अङ्गाङ्गी भावसे उत्पन्न होता है। जो ऐसा होता है वह अन्यकी प्रयोजन सिध्यर्थ ही होता है। पुरुष

चित्तको भोगता है अथवा चित्तही पुरुषको भोग करावता है। पुरुष जब प्रकृतिसे अपनेको अत्यन्त पृथक् जानकर अपरोक्ष ज्ञान लाभ करता है तब उसकी आत्म-जिज्ञासा नहीं रहती है। उसवक्त उसका चित्त विवेकमार्गवाही होता है। विवेकसाक्षात्कार करनेके लिये भी जिसकी आकांक्षा नहीं रहती, उसकी ही धर्ममेघ समाधि होती है। उससे अविद्याकी निवृत्ति होती है। अविद्या निवृत्तिसे क्लेशकर्म और उससे समुत्पन्न जो अदृष्ट है—उन सबका अभाव होता है। बुद्धि-सत्त्वका आवरण नष्ट हो जानेसे योगी सर्वज्ञ होता है। तब गुणका परिणाम क्रम भी समाप्त हो जाता है। उस योगी पुरुषका दूसरा जन्म नहीं होता। इसीको ही कैवल्य कहा है।

संक्षेपसे योगका परिचय दिया गया। इस ग्रन्थों में खाली समाधि और साधन पादकी ही टीका की गई। क्यों कि साधनको विशेष करके इतनेकी ही आवश्यकता होती है। परवर्ति दो पाद फलरूप हैं। जो ही साधन करेगा उसको क्रमशः माल्म होगी। ज्योतिषशास्त्रका जैसे गणितभाग अभ्रान्त सत्य है, एवं चन्द्रसूर्यादि जिसमें प्रमाण हैं, इसी तरह योगशास्त्रका साधन और समाधि पाद साधन कालमें ही योगीको दुःखसे बंचाकर प्रत्यक्ष फल देता है। ज्योतिष-शास्त्रका फलित ज्योतिष जैसे सर्वत्र फल नहीं देता वैसेही योगकी विभूति आदिक सर्वत्र देखनेमें नहीं आती, और वे मिथ्या हैं ऐसी भी नहीं कही जा सकती हैं। इसलिये उस विषयमें कुछ न कहना ही सङ्गत है। त्रिकालज्ञयोगी यदि किसीको भाग्यसे मिल जाय तो वही इस बातमें प्रमाण दे सकता है। लेखकको सिद्धिके बारेमें जाननेकी स्पृहा नहीं है क्यों कि सिद्धियां योगकी अन्तराय (बाधक) होनेसे उस विषयकी ओर उदासीन रहना ही श्रेयः मानते हैं। साधारणतः योग चार प्रकारका देखा जाता है। यथा—मन्त्रयोग–हठयोग–लययोग–राजयोग। इनका प्रत्येकशः परिचय देता हूं। ये सब योग केवल मनयोगके लिये ही हैं।

मन्त्रयोगः ।

मनही मनुष्यके बन्ध और मोक्षका कारण है। मन जब चञ्चल होकर संसार भोगमें आसक्त होता है तब वह बन्धका कारण हो जाता है। और निश्चल होकर आत्मा के साथ जब मनका एक भाव हो जाता है तब वह मोक्षका कारण हो जाता है। चित्त या मनको ही स्थिर करनेके लिये सर्व शास्त्रोंमें अनेको उपाय उल्लिखित हैं। उनमें मन्त्र भी एक सुगम उपाय है। उपनिषदोंमें भी उसका बहुत प्रमाण मिलते हैं। महाराज मनुने मनुस्मृति के द्वितीयाध्यायमें जपकी विशेष प्रशंसा की है। महर्षि पतञ्जलिने भी आसन्न समाधिके उपाय रूपसे ईश्वर प्रणिधानकोही बतलाया है। इष्टदेवताओंका साक्षात्कार होता हैं, यह बात उन्होंने स्पष्टतया स्वीकार की है। प्रणवही वेदका मूल मन्त्र है। प्रणवका ही अर्थ पहले गायत्री रूपसे प्रकाशित हुआ। इसलिये गायत्री जप ही सर्व हिंदु समाजमें प्रतिष्ठा लाभ किया। स्त्रीशूद्रादियोंका उसमें अधिकार न होनेसे परवर्तिकालमें ऋषियोंने कृपा करके उनको भी जिस प्रकार कल्याण हो, उनके लिये भगवान् के नाम स्मरणमात्र मन्त्र रूपसे प्रकट किया। नामके खाली उच्चारण मात्रसे जप नहीं होता। किन्तु उसके साथ श्रद्धादिक मानसिक क्रियाका संयोग होना अत्यावश्यक है। श्रद्धापूर्वक मन्त्रजप करने परभी जहां यथोक्त फल नहीं होता। वहां नामापराधको यथाशक्ति त्याग करके नामजप करना अच्छा है। दस प्रकार नामापराध ये हैं—परनिन्दा—हरिहर और देवीमें भेददृष्टि—क्रूरदृष्टि और प्रवृत्तिवालेको नाम बतलाना—वेदमें अविश्वास—शास्त्रोंमें अविश्वास—गुरुवाक्यमें अश्रद्धा—नामके माहात्म्यमें अविश्वास—नाम जपके वक्त नाम जपके भरोसेसे निषिद्ध कर्म करना—नामके उपर भरोसा करके नित्यकर्मको छोड बैठना—और अपने साधनके साथ दुसरे साधनों की तुलना करना। उपर्युक्त दश नामापराधोंका त्याग करके जप करनेसे फल अवश्य दिखाई पडता है।

गायत्रीमन्त्र विधि अनुसार सुयोग्य ब्राह्मणसे ग्रहण करनेका नियम अनादि कालसे भारतवर्षमें चला आ रहा है। शैव तथा वैष्णवादि सम्प्रदायोंमें दीक्षादि रीति भी चल रही है। उसकी उपेक्षा करके मनमाने किसी नाम जपसे कोई फल देखनेमें नहीं आता। अतएव विधिपूर्वक मन्त्र ग्रहण करके जपमें प्रवृत्त होना सर्व श्रेष्ठ है। जबतक मन्त्रदाता गुरु नहीं मिलते है, तबतक गायत्री या प्रणव जप करके भगवान्के निकट सद्गुरुके निमित्त प्रार्थना करनी चाहिये। वह परमेश्वर ही स्वयं उपयुक्त गुरु मिला देंगे। जिस स्थानमें मन्त्रजप करना होगा उस स्थानका परमनीय तथा यथासम्भव निर्जन होना परम लाभकारी है। तथा परम आवश्यक भी है। स्नान करके भस्म या गंगामिट्टीसे तिलक करना चाहिये। एवं "चैलाजिनकुशोत्तरम्"–इस वाक्यके अनुसार आसन बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशाको मुख करके बैठना ही लाभकारी है। पहले इष्ट देवताओंको नमस्कार करके आसनमें बैठना चाहिये। नित्यकर्म समाप्त करके सूर्यको अर्घ्य देना, बादको पत्रपुष्पादिसे गुरुका पूजन करना। और गुरुमन्त्रसे ही अपने इष्ट देवताका भी पूजन करना चाहिये। इसके बाद देवतामन्त्र तथा ध्यान स्तोत्रादि पाठ करके स्वस्तिकादि आसनमें बैठना और न्यूनातिन्यून तीन प्राणायाम अवश्य करना चाहिये। गुरुमन्त्रके एकबार उच्चारण कालमें जो समय व्यतीत होता है उतना कालतक प्राणवायुको बाहरसे भीतरकी और पूरक विधिसे खींचना, पीछे दोनों नथुनोंको बन्ध करके तीन दफे उस मन्त्रका जप करना। और एक मन्त्रोच्चारणमें जो वक्त लगता है, भीतरके कुम्भक वायुको धीरे २ उतने वक्त "रेचक" छोडना। अनन्तर यथाशक्ति माला या करमालासे गिनतीपूर्वक जप करना चाहिये। बादको इष्टदेवता व गुरुको जल समर्पण कर देना चाहिये। एवं अपने भजनके अनुकूल शास्त्रका कुछ पाठ करना। जपका भी कुछ प्रकार भेद हैं, जैसे कि—नित्यजप, नैमित्तिक जप, काम्यजप, निषिद्धजप, प्रायश्चित्तजप,

अचलजप, चलजप, वाचिकजप, उपांशुजप, मानसिकजप, अखण्डजप, अजपाजप, इत्यादि जपके साथ अजपाका (सोऽहं मन्त्र) श्वास-प्रश्वास के साथ धारा वाहिकरूपसे अभ्यास करनेसे विनाप्राणायामके भी मन स्थिर हो सकता है। इस अभ्यासके फलरूपसे नादानुसन्धान उत्पन्न होकर नाद सुना जाता है। कमसे कम कोटि जप अवश्य हो जाना चाहिये। नादानुसन्धानका विशेष विस्तारमें लिख चुका हूं।

हठयोग।

हठयोगका विशेषत्व यह है कि इस योगसे पहले षट्कर्मद्वारा शरीरको शुद्ध करके प्राणायामसे कुण्डलिनीको जगाकर अपनी इच्छासे प्राणवायुको सुषुम्ना के बीचमें प्रविष्ट करके ब्रह्मरन्ध्रतक ले जाकर योगी बहुत कालतक समाधिस्थ रह सकता है।

षट् कर्म और कुण्डलिनीका जागरण ही इस योगका प्रधान अंग है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि इस योग में भी करनी पडती है। किन्तु प्रकार में कुछ भेद है। अब पहले षट् कर्मका कथन करता हूं—लोली, अग्निसार "अथवा त्राटक" वस्ती, नेती, धौति और कपालभाति—इन षट् कर्मद्वारा शरीरको शोधन करना चाहिये। नहीं तो योगसे रोग होनेकी आशङ्का है। मलिन तथा असंयत शरीरसे योगमें जो प्रवृत्त होता है वह केवल रोगी ही बनेगा। औषध व्यवहारसे पहले जैसे जुलाव लेकर शरीरको शुद्ध करके मल दूर किया जाता है ऐसे ही योग में भी षट्कर्मद्वारा शुद्ध करना परमावश्यक है। शोधन प्रणाली इस प्रकार है।

१ लोली—दाहिने–बायें–सामने–पीछे–ऊपर–नीचे–पेटको जोरसे चलाना चाहिये। पीछे पेटको मध्य भागको कुम्हारके चक्रवत् घुमाना चाहिये। यह लोली कही जाती है। इससे पेटके सर्व रोग नष्ट हो जाते हैं। सब अङ्गों की चालना होती है, कुण्डलिनी भी संचलिता होती है। तथा जठराग्नि की भी काफी वृद्धि होने लगती है।

२ अग्निसार—नाभिग्रन्थिको मेरुदण्डकी तरफ तथा सामने की ओर बारंबार जोरसे निक्षेप करनेसे भी उदरावर्त नष्ट होजाता है तथा जठराग्नि भी बढ जाती है।

३ वस्ती—जल में बैठकर नाभिपरिमित जल में डूबा रहे और उत्कट आसन में बैठकर गुदासे जल खींचकर पेटमें भर लेना, इससे प्रमेह मन्दाग्नि और आमवात नष्ट होते हैं।

४ नेती—एक सूतली की डोरीको पाका कर, नाकके नथुने में भरके कण्ठके मध्य तक पहुंचाकर मुखसे निकालना। इससे नासिका और आंखका मल दूर हो जाता है और आंख निर्मल होती है।

५ धौती—सोलह हाथ लम्बा और चार अङ्गुल चौडा एक बारीक पगडी (वस्त्र) को मुख में चाबकर पेट में समेटता जाय (सूखा वस्त्र) गेरणा ही अच्छा है यदि कण्ठद्वारा पेट में न घुंटा सिर्फ एक त्रिथत शेप रक्खे। बादको गलेमें से धीरे २ खींच कर धोवे। कोई कोई गुदासे भी इस धोतीको निकाल देता है। इससे छातीके अन्दर जो श्लेष्मा रहती है वह निकल जाती है। तब फिर श्लेष्मा सम्बन्धी कोई बिमारी नहीं होती।

६ कपालभाती—इडासे वायुपूर्ण करके पिङ्गलासे रेचक करे फिर पिंगलासे पूर्ण करके इडासे रेचन करे। यथाशक्ति बार २ ऐसा करनेसे कपालभाती होती है। इससे सब नाडीयां शुद्ध होती हैं। वात, पित्त, कफ सम्बन्धी सर्व कफादि दोप कपालभातीसे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। तब ही वात, पित्त तथा कफकी समतासे ही शरीर नीरोग होकर योगके लिये योग्य हो जाता है।

तब ही शरीरकी उपयोगिता में प्राणायाम करना चाहिये। किन्तु बिना आसनके स्थिरकिये प्राणायाम करना ठीक नहीं है। सिद्धासन में बैठकर अनायास जब साडे तीन घण्टा बैठा जाय, तभी प्राणायामकी योग्यता जाननी चाहिये। नाडी शुद्धिके बाद प्राणायाम करना उचित

है। खाली कपालभातीसे भी नाडीशुद्धि हो सकती है। नाडीशुद्धिके ये लक्षण हैं—शरीर कृश हो जायगा, आरोग्यता रहेगी, श्वासप्रश्वास की अल्पता होगी। अनाहत नाद सुनाई देगी फिर ज्योतिका दर्शन होगा। मुख प्रसन्न होगा, तथा जठराग्नि प्रबल होगी और स्वप्नदोष भी नहीं होगा, आंख निर्मल होगी—ये लक्षण देख व जानकर नाडीशुद्धि जान लेना चाहिये।

कुम्भक।

दाहिने हाथके अङ्गुठासे दाहिना छिद्र नाकका बन्ध करके बायें छिद्रसे पेटतक वायु भरे। फिर कनिष्ठा और अनामिकासे वाम छिद्र बन्ध करके यथाशक्ति कुम्भक करे। पूरकके बाद और कुम्भकके सुरुमें उड्डीयान बन्धको करे। पीछे दाहिने नथूनेसे धीरे २ वायुका रेचन करे। फिर पूर्वोक्त रीतिसे दाहिने छिद्रसे वायुका पूरण करे। एवं मध्यमें यथाशक्ति कुम्भक करने बाद वाम नाथूनेसे वायुका रेचन करे। यही सहित कुम्भक होता है। इस क्रियासे भी नाडीशुद्धि होती है। रेचक पूरकके बिना केवल कुम्भकसे पूर्ण कलश की तरह अवस्थान होनेसे केवल कुम्भक होता है। प्राणायामसे जब नाडियां शुद्ध हो जाती हैं, तब साधकको स्वयं ही यह केवल कुम्भक खुद ही स्वाभाविक होने लगता है। परम उपशम–आरोग्यता नादप्रकाश इत्यादिक इसके चिह्न हैं।

मुद्रा।

१ जालन्धर—कण्ठको यत्नपूर्वक संकुचित करके चिवुक (ठुंडडी) को हृदयमें लगाना, इसीको ही जालन्धर मुद्रा कहते हैं। इससे कण्ठ कूप बन्ध होनेसे मस्तिष्क से गिरा हुआ अमृतजल अधोगामी नहीं हो सकता। इससे देह और मन शीतल और सुस्थिर होता है। एवं सुधासे शरीर पुष्ट होता है। पूरकके बाद कुम्भकसे पहिले इस जालन्धर मुद्राको करना चाहिये।

२ उड्डीयानबन्ध—पांवकी एडीसे गुदाको दबाकर योनीके द्वार खींचकर वायुको उपर ले आवे, जैसे पक्षी उडता है तैसे ही यह मुद्रा है, अतएव इसे उड्डीयान कहा है। रेचकके पहले और कुम्भकके बाद यह मुद्रा करनी चाहिये। इससे भगन्दर-बवासीर आदि रोग आराम होते हैं।

३ मूलबन्ध—अपान वायुको खींचकर उपर ले आवे, और प्राणके साथ मिलाकर हृदय में स्थिर करे, फिर धीरे २ अन्दरके वायुका त्याग करे इसको भी कुम्भकके बाद रेचकके पहला करे।

कुण्डलिनीजागरणम्।

प्राणायामके अभ्याससे जब प्राणवायु की परिचय अवस्था प्राप्ति होती है तब वह जठराग्निके साथ मिलकर कुण्डलिनीको पीडित करता है। उस पीडनसे कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्रका द्वार छोडकर हृदय में जा सोती हैं। और प्राणवायु चित्तके साथ सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करने के बाद पञ्चभूतों की धारणा करनी चाहिये।

वह इस प्रकार है:—

धारणा—पांवसे जानु तक पृथ्वीका स्थान है। पृथ्वी चतुष्कोण-पीतवर्णात्मिका है। लकार इसका बीज है। पृथ्वीमें आरोप करके 'ल' वर्णके साथ चतुर्भुज हिरण्मय पुरुषकी पांचघडी धारणा करनेसे पृथ्वी जय होती है। तब पृथ्वीसे इस योगी जन की मृत्यु नहीं हो सकती। जानुसे पायु (गुदा) तक जलका स्थान है। जलका आकार अर्ध-चन्द्राकृति है। शुक्ल वर्ण है। वकार इसका बीज है। वकार के साथ जल में वायुका आरोपन करके किरीटकुण्डलवाले नारायणके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। दो घण्टे ऐसी धारणा करनेसे जलजय होता है। तब जलसे योगीकी मृत्यु नहीं होती। पायुसे हृदयतक अग्निका स्थान है। अग्नि रक्तवर्णात्मक रेफ बीजवाला है। अग्निमें वायुका आरोप करके

भस्मभूषित भगवान् रुद्रका ध्यान पांचघडी करनेसे उस योगी की फिर अग्निसे मृत्यु नहीं हो सकता है। वायु षट् कोण और कृष्ण वर्ण है। यकार इसका बीज है। यकारके साथ सर्वज्ञ ईश्वरकी वायुस्थानमें पांच घडी धारणा करनेसे फिर योगीको वायुभय नहीं हो सकती और मृत्यु भी वायुसे नहीं होती है। भ्रूमध्यसे मूर्धातक आकाशका स्थान है। आकाश धूम्रवर्ण वर्तुलाकार है। हकार इसका बीज है। आकाश में वायुको आरोप करके हकारके साथ शङ्करको बिन्दुरूप करके सदाशिव जानकर ध्यान करनेसे आकाश जय होता है। पांच घडी ऐसी धारणासे योगी चाहे जिस स्थानों में जहां भी रहे सुखपूर्वक वहीं योगीकी स्थिति हो सकती है।

ध्यान।

पायु और उपस्थ–इन्द्रियके मध्य में एक त्रिकोणाकार स्थान है। उसे मूलाधार भी कहते हैं। मूलाधारसे असंख्य नाडीयां उत्पन्न होकर सर्व शरीर में व्याप्त हो रही हैं। इन में तीन नाडीयां प्रधान हैं। उनके नाम ये हैं—इडा–पिंगला–सुषुम्ना। इडा बायीं, पिंगला दाहिनी और सुषुम्ना ठीक मेरुदण्डके बीच में रहती है। इसी सुषुम्ना नाडीके मध्य में एक चित्रा नामक नाडी है। उस चित्राके अन्दर फिर ब्रह्मनाडी रहती है। मूलाधारमें जो सुन्दर सुवर्ण सदृश ज्योतिर्मय स्थान है, उसीको मूलाधार चक्र कहते हैं। कुण्डलिनी साडेतीन पेंच देकर सुषुम्ना को लपेटकर ब्रह्मनाडीका द्वार रोककर सोई रहती है। इसीको ही जगाना चाहिये। यहां चतुर्दल पद्म है। चारों दलों में व-श-ष स ये चार वर्ण हैं। योगी पहले इसी चक्रका ध्यान करे। मूलाधारसे उपर उपस्थ मूल में षट् चक्र है। इस में षड् दल हैं। ब-भ-म-य-र-ल ये प्रति दलों में वर्ण हैं। इसके उपर नाभी के नीचे मणिपुर चक्र है। मेघसदृश इसका वर्ण है। यह दशदल पद्मचक्र है। ड-कारसे फकारतक क्रमशः उन दस दलों में ये दश वर्ण हैं। इससे नीचे जो षड्दल चक्र है उसका नाम स्वाधिष्ठान

चक्र है। हृदयमें जो चक्र है उसका नाम अनाहत चक्र है प्रवाल मूंगे की तरह इसका वर्ण है। इसमें द्वादशदल पद्म है। उन पद्मदलों में 'क' से लेकर 'ठ' तक द्वादश अक्षर हैं। कण्ठदेश में एक धूम्र वर्ण पद्म है। उसका नाम विशुद्धचक्र है। उसमें कोई अक्षर नहीं होते। भ्रूमध्य में एक द्विदल चक्र है। उस में 'ह' कार और 'क्ष' कार ये दो वर्ण हैं। यह जीवात्माका स्थान है। इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनीशक्तिको वायुकी सहायतासे इन सब चक्रों में घुमा करके आधारसे लेकर द्वादश चक्रके उपर जो शिवस्थान है उस में ले जाकर शिवशक्तिका मिलान करके अतुलानन्दप्राप्त करता है।

लययोग।

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन् ध्यायेन् निष्कलमीश्वरम् ॥
(योगतत्त्वोपनिषद्)

चित्तलय करनेके लिये जितने उपाय शास्त्रों में वर्णित हैं उन उपायों की गणना करके समाप्ति करना भी सुकठिन है। तथापि साधारण रीतिसे मनके लय करनेके नादानुसन्धानको ही भगवान् भाष्यकारने मुख्य माना है। कार्यको कारण में लय करना ही लय योगका साधन है। क्यों कि कारण में कार्य अव्यक्त रहता है। और कार्य में अनुस्यूत होता है। एकको छोडकर दूसरा नहीं ठाहर सकता है। अविद्या ही कार्यरूप में परिणत होकर, अहङ्कार, बुद्धि, मन, इन्द्रियां और शरीर ये पांच अवस्था प्राप्त हुई है। इन में भी पहिला पहिलाको उत्तरोत्तरका कारण माना जाता है। अविद्या ही सबका मूल है। पञ्चमहाभूतों में भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पूर्व पूर्वके उत्तरोत्तरका कार्य है। अतएव—पृथ्वीको जल में, जलको तेज में, तेजको वायु में, वायुको आकाश में, आकाशको अविद्या में लय चिन्तन करके, अविद्याका अधिष्ठान जो आत्मा है, उस आत्मा में मन, अविद्या

आदिक जितने दृश्य पदार्थ हैं उन सबको लय करके तन्मय (आत्ममय) होकर अवस्थान करने का नाम ही लय योग है। कोई उन्मनीसे कोई प्रणवोपासनासे कोई चतुर्विंशति तत्वों के (कार्यको कारणरूपसे) विचारद्वारा लय करके, तथा कोई दृश्य और द्रष्टाका स्वरूप विचार करके दृश्यको बोध करके द्रष्टाके स्वरूप में अवस्थानरूप लय योगसे समाधि सिद्धि करता है। वराहोपनिषत्तथा हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥

अर्थ यह है—इन्द्रियों का स्वामी मन है, मनका स्वामी प्राण है, प्राणका स्वामी लय है और वह लय नादके आश्रित है। नादबिन्दूपनिषद में भी नादानुसन्धानके अभ्याससे मन प्राण दोनों स्वयं ही नाद में लय हो जाते हैं। नाद ज्योति में एक हो जाता है। नादको जो कुछ अवशिष्ट रहता है वही ब्रह्म है। मनको मनसे देखनेसे भी मनका लय हो जाता है। नादानुसन्धानके लिये हमें पहला नाथयोग लिख चुका हूं—इसलिये उनके लिये यहां पुनः वर्णन करना अनावश्यक है। नादबिन्दु हंसोपनिषदादि उपनिषदों में, हठयोग प्रदीपिका, गोरक्षसंहिता, घेरण्डसंहितादिक ग्रन्थों में इसका विस्तार वर्णन किया है। जिन्हें इच्छा हो वहांसे देख सकते हैं।

राजयोग।

हठयोग प्रदीपिकाकारके ग्रन्थके आदिमें मुक्तकण्ठसे यह स्वीकार किया गया है कि—"केवलं राजयोगाय हठयोगोपदिश्यते।" खाली राजयोगके लिये ही हठयोगका उपदेश किया जाता है। वहां और भी कहा है कि—राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी। अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्या शून्यं परं पदम् ॥ १ ॥ अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्। जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्यगा चेत्येकवाचकाः ॥ २ ॥ याने राजयोग–समाधि–उन्मनी–मनोन्मनी–अमरत्व–

लयतत्त्व–शून्याशून्य– परम्पद– अमनस्क– अद्वैत– निरालम्ब– निरञ्जन– जीवन्मुक्त–सहजावस्था–तुर्यगा ये सब एक समाधिके ही वाचक हैं। राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः। ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥ तात्पर्य यह है कि राजयोगके माहात्म्यको कौन जान सकता है। राजयोगसे ज्ञान, मुक्ति, और सिद्धियां सिर्फ गुरुवाक्यसे ही मिल सकती हैं। राजयोगके फल भी उन्होंने वहां प्रदर्शित किये हैं—अस्तु वा नास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम्। लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ १ ॥ राजयोग मजानन्तः केवलं हठकर्मिणः। एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफल-वर्जितान् ॥ २ ॥ आशय ये है कि—लययोगसे जो सुख उत्पन्न होता है वह राजयोग करके भी होता। राजयोगको न जानकर खाली हठयोग करनेवालेका सिर्फ प्रयास मात्र के विना कुछ सुख नहीं होता। उपर्युक्त श्लोकसे तथा स्वानुभावसे मालूम होता है कि—मन्त्र–हठ– और लययोगका फल ही राजयोग है। उनका ही नाम भिन्न २ शास्त्रों में सुना जाता है। जैसे—आत्मयोग, अध्यात्मयोग, महायोग, अस्पर्श-योग, सांख्ययोग, राजगुह्यराजयोग इत्यादिक।

ज्ञानयोगका साधन वेदान्तशास्त्र में इस प्रकार कहा है। कि— सदसद्वस्तुविवेक, इहामूत्रफलभोगविराग, शमादि षट्साधन सम्पत्ति और मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, (तत्त्वमस्यादि) वाक्यों का विचार—ये आठ अंग ज्ञानयोग या राजयोगोंके साधन हैं। तेजोबिंदूपनिषद में राजयोगके १५ अंग बतलाये हैं। वे इस प्रकारके हैं–

१ यम—उसीको कहते हैं कि सर्वत्र सब कुछ ब्रह्ममय ही है, इस प्रकार सब इन्द्रियों को संयमन करके जो जाना जाता है वही यम है।

२ नियम—अहं ब्रह्मास्मि वृत्तिद्वारा दूसरी वृत्तिका तिरस्कार करके स्वजातीय वृत्तिके प्रवाह करनेको ही नियम कहते हैं।

३ त्याग—अनात्मवस्तुका चिन्तन न करनेका नाम त्याग है।

४ मूलबन्ध—सर्वका जो मूल है तथा चित्त निरोध करनेका जो मूल है उस मूलवस्तु आत्माको ही मूलबन्ध कहते हैं।

५ सम—हस्तपादादिक सबको जो ब्रह्म जानता है वहीं ब्रह्म में लीन जानना। खाली मेरुदण्ड ग्रीवा आदिको सीधा रखनेसे समता नहीं होती।

६ मौन—ब्रह्म मनवाणीका अविषय है। तथा अनात्म वस्तु ही वाणी योग्य है। ऐसा निश्चय करनेका नाम मौन है।

७ निर्जन—जिस में कोई प्रपंच नहीं है जो सबका अधिष्ठान है तथा हरवक्त विद्यमान है ऐसे आत्माको ही निर्जन कहते हैं।

८ काल—सर्व प्राणिमात्रकी जिस में क्षणभर में कल्पना होती है उसी अखण्ड आनन्दरूप ब्रह्मको ही काल कहा है।

९ आसन—जिस भाव में स्थिरतापूर्वक बैठकर सुखसे ब्रह्मचिन्तन हो उसीका नाम आसन है।

१० दृष्टि—ज्ञानदृष्टिसे ब्रह्ममय जगत्को देखना ही उदारदृष्टि है। खाली नासिकाग्रभागका अवलोकन ही योगदृष्टि नहीं है।

११ प्राणायाम—चित्त आदि सर्व भावोंको ब्रह्मरूपसे चिन्तन करके सर्व वृत्तियोंको निरोध करनेका नाम प्राणायाम है।

१२ प्रत्याहार—अनात्म विषयको आत्मा में विलय करके विषयासक्त मनको हठाकर ब्रह्माकार अभ्यास करनेका नाम ही प्रत्याहार है।

१३ धारणा—जहां भी मन जाय वहां ब्रह्मदर्शन मानकर दर्शन करना ही उत्तम धारणा है।

१४ ध्यान—मैं ब्रह्म हूं इस सद्वृत्तिको लेकर निरालम्ब में मनको स्थिर करनेका नाम ही ध्यान है।

१५ समाधि—पहले मनको निर्विकार करके पश्चात् ब्रह्माकार करना फिर सर्व वृत्तियोंका निरोध करके वृत्तिका विस्मरण होना ही समाधि है।

मन्त्रयोगका फल।

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादि गुणान्वितम्॥
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः।
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा॥
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसंभवा॥

(योगतत्त्वोपनिषत्)

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशति।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥

(योगचूडामण्युपनिषत्)

यस्य द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपेदन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते॥

(संन्यासोपनिषत्)

जपेनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।

(मनुस्मृति २ अ० ८७ श्लो०)

तस्य वाचकः प्रणवः॥ २६॥ तज्जपस्तदर्थभावनम्॥२७॥
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च॥ २८॥

(प्रथम अ० २६–२८ सू०)

हठयोगका फल ।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥(योगतत्त्वोपनि.)
योगशिखां महागुह्यां यो जानाति महामतिः ।
न तस्य किञ्चिदज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ (योगशिखोपनि.)
ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेंद्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्तिं लभते प्रिये ॥ (योगबीज)
सर्वदा साधयेद्योगी शीतली कुम्भकं शुभम् ।
अजीर्णकफपित्तश्च नैव तस्य प्रजायते ॥ (गोरक्षसंहिता)
नाभ्याधारो भवेत्पद्मस्तत्र प्राणं समभ्यसेत् ।
स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिरन्ततः ॥ (योगस्वरोदयः)
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥
हिक्काश्वासश्च काशश्च शिरः कर्णादिवेदना ।
भवन्ति विविधा दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात्॥ (सिद्धियोगः)

लययोगका फल ।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष, लयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं, मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥१॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं, त्वां मन्यामहे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात्पवनेन साकं, विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥ २ ॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ३ ॥
भगवत्पादस्य (योगतारावलिः)

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः ।
नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं नहि कांक्षति ॥

(नादबिन्दूपनिषत्)

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥

(ध्यानबिन्दूपनिषत्)

राजयोगका फल ।

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः ।

(योगशिखोपनिषत्)

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(कठोपनिषत् १।२-१२)

यथैव बिम्बं मृतोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवति वीतशोकः ॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

(श्वे. त. ३. द्वि. १२ श्लोकः)

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।

(मैत्र्येय्युपनिषत्)

---

१०८ उपनिषदों में नीचे लिखी हुई २० उपनिषदों में योगका ही केवल वर्णन मिलता है (उन उपनिषदोंको भित्ति आधार) करके पिछले मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगके बहुत ग्रन्थ रचित हुए। त्रिपाद्विभूतिनारायणोपनिषत्-रामतापन्योपनिषत्-अन्नपूर्णा-सूर्य-सावित्री-गणपति-हयग्रीव-दत्तात्रेय-कलिसन्तरण-सरस्वतीरहस्योपनिषदोंमें मन्त्रयोगकी विधियां अच्छी तरहसे मिलती है। पुराण, इतिहास और धर्मशास्त्र मनुस्मृत्यादि तथा वेदके संहिता भाग में मन्त्रयोगका विधान है। घेरण्डसंहिता-शिवसंहिता-गोरक्षसंहिता आदिक ग्रन्थों में हठयोग दर्शाया है। वेदान्त ग्रन्थों में राजयोगका विशेष वर्णन मिलता है। पातञ्जलादि ग्रन्थों में लययोगका वर्णन है। परन्तु योगदर्शन में महर्षि पातञ्जलिने जैसी युक्तिसे योगका प्रतिपादन किया है, परवर्ति काल में किसी योगशास्त्र कर्ताने वैसा नहीं दर्शाया। अतएव योगकी युक्तिके लिये योगी मात्रको ही महर्षि पतञ्जलिके पास ऋणी होना पडता है। भगवान् व्यासजीने भी इसी लिये योगशास्त्रका भाष्य बनाया है ऐसी माळूम होती है।

योगोपनिषदोंके नाम—अद्वयतारक, अमृतनाद, अमृतविन्दु, क्षुरिका, तेजोविन्दु, त्रिशिखी ब्राह्मण, दर्शनोप, ध्यानविन्दु, पाशुपत् ब्राह्मण, ब्रह्मविद्या, मण्डलब्राह्मण, महावाक्य, योगकुण्डलि, योगचूडामणि, योगतत्त्व, योगशिखा, वराह, शाण्डिल्य, हंस, कठ, श्वेताश्वतर, मुण्डक उपनिषदों में ज्ञान चर्चा अधिक पाई जानेसे भी साथ ही साथ योगका परिचय पाया जाता है। परवर्तिग्रन्थकारोंने उपनिषदोंके श्लोक लेकर तथा उनका आशय लेकर अपने २ ग्रन्थों में भर दिया है। उन ग्रन्थों के देखनेसे विदित होता है कि उनका योगशास्त्र स्वनिर्मित नहीं है। किन्तु सबके मत या पंथ भिन्न २ हैं। कोई कुण्डलिनीको जगाकर योग में प्रवृत्त हुए हैं, किसीने षडङ्गाभ्याससे योग दिखलाया है, किसीने मन्त्र जपसे ही सिद्धियां दिखलाई है। पुराण तथा इतिहास

ग्रन्थों में योगका बहुत प्रमाण मिलते हैं। महाभारत में जनक और कपिलसंवादसे योगके गुह्य रहस्यका पता लगता है। अतएव योग भी मोक्षका प्रतिपादक है। इस बातपर किसी भी आर्यग्रन्थकारों का मत द्वैध नहीं है। बोद्ध, जैन, इशायी, पार्शी आदि धर्मों में भी योग तथा सिद्धियां दिखाई देती हैं। अतएव योग सर्ववादी सम्मत मोक्ष शास्त्र है। ॐ तत्सत्।

विद्वज्जनानुगत

साधु प्रज्ञानाथ।

तत्त्वज्ञान

अखिलशास्त्रार्णवसन्तरणकुशलेन भगवता विद्यारण्येन मुमुक्षूणां हितार्थायोपनिषदां सारमादाय पञ्चदशीति नामधेयो प्रकरणग्रन्थो व्यरचि। तत्र प्रायशः सर्वाणि प्रकरणानि संक्षेपेण तेन निबद्धानि, परन्तु शृङ्खलाभावान्न तेन शास्त्र-गुरुहीनानां ज्ञानं जायते । पञ्चदश्युक्तानां विषयानां सुखबोधायैषा भूमिकाऽस्माभिर्लिख्यते । एतेन पाठकानां विषयज्ञानं, अध्याय-सम्बन्ध-बोधः, ग्रन्थ-प्रतिपाद्यविषयोपपत्तिः, ब्रह्मज्ञानं च सुखेन भविष्यति । ब्रह्मैवाखिलवेदप्रतिपाद्यविषयत्वेनाचार्यैः स्वीक्रियते। तदेव सर्वेषां पुरुषार्थत्वेन कल्प्यते। तदधिगमाय सर्वे शास्त्रग्रन्थाः प्रवृत्ताः । अखिलविज्ञानज्ञाने-

भाषान्तरः—जितने शास्त्रसमुद्र हैं उनको सन्तरण करने में (पढने में) कुशल भगवान् विद्यारण्यजीने मुमुक्षूके हितके लिये उपनिषदोंका सार लेकर पंचदशी नाम ग्रंथ बनाये हैं। उन में प्रायः करके सारे वेदांतोंका प्रकरण संक्षेपसे उन्होंने निबद्ध किये हैं, परन्तु शृंखलाके अभावसे जिनका शास्त्र गुरु सहायक नहीं है, उनको ज्ञान नहीं हो सकता। पंचदशी में लिखा हुआ विषयोंका जैसे सुखपूर्वक बोध हो सके उसके लिये हम इस भूमिकाको लिखते हैं। इससे पाठकोंका विषयज्ञान, अध्यायोंका संबंध और ग्रंथों में प्रतिपाद्य विषयोंका ज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान सुखपूर्वक होयेंगे। जितने शास्त्र हैं उन्होंने ब्रह्मको ही सारे वेदका प्रतिपाद्य विषय रूपसे स्वीकार किये हैं। और उसीको ही सबसे बडा पुरुषार्थ रूपसे कल्पना किया है। ब्रह्मको जाननेके लिये ही सारे शास्त्र ग्रन्थों की प्रवृत्ति हुई है। सारे जडविज्ञान जाननेसे भी किसीका थोडा

नापि न केषांचित् किंचिच्छाश्वतं फलमत्र दृश्यते, नापि शोकमोहौ वा निवर्तेते। ब्रह्मापरोक्षबोधेन तु शोकमोहनिवृत्ति-रधिकारिणामत्र भूयो भूयो दृश्यते। अतो जडविज्ञानचर्चां विहाय मुमुक्षूणां ब्रह्मचर्चैव कर्तव्या, येन दुःखस्यात्यन्तिक-निवृत्तिः पराशान्तिश्चाधिगम्यते।

तच्च ब्रह्म श्रुतिषु सच्चिदानन्दरूपमिति श्रूयते, तस्य सद्रूप-मत्र विचार्यते।

आकाशादीनि भूतानि सर्वेषां दृष्टिगोचराणि सन्ति, तेषा-मवश्यं किञ्चित्कारणं भवितव्यं, तत्कारणमेव सदिति शब्देना-भिधीयते। नासत उत्पत्तिः संभवति कस्यचन वस्तुनः। नात्र कोऽपि खपुष्पं घ्रातुं शक्नोति। असतश्चेदुत्पत्तिः स्यादसतः

भी नाश रहित फल दिखाई नहीं पडता। न कि उन्हों की शोक मोह की निवृत्ति भी कभी होती है। परन्तु ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञानसे अर्थात् साक्षात्कारसे अधिकारी पुरुषों की शोकमोहकी निवृत्ति बहुत स्थानों में देखी गई है। इस लिये जडविज्ञान चर्चाको छोडकर मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि ब्रह्मचर्चा ही करें, जिससे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो सके। वह ब्रह्म शास्त्रों में सच्चिदानन्दरूप हैं इस प्रकार सुना जाता है। उनके सद्रूपका यहाँ विचार किया जा रहा है।

भाषान्तरः—आकाशादि जितने भूत हैं वे सब दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उनका कोई कारण अवश्य होगा। उस कारणको ही सत् शब्दोंसे कथन किया जाता है क्यों कि असत्से किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। आकाशकुसुमका घ्राण कोई नहीं ले सकता। असत्से किसीकी उत्पत्ति हो तो वह सब जगह में सुलभ होनेसे हरेक पदार्थकी

सर्वत्र सुलभत्वात्सर्वत्र सर्वदा सर्वस्मात्पदार्थात्सर्वेषां वस्तूनामुत्पत्तिः स्यात् । परन्तु नैवं दृश्यते, अतोऽसन्नकारणम् ।

शङ्का—सद्ब्रह्म चेत्कारणं नित्यत्वाद्ब्रह्मणः कथं न शाश्वती-सृष्टिरिति चेदुच्यते । यस्माद्यस्योत्पत्तिस्तस्मिंस्तदनुस्यूतं तिष्ठति, यथा घटे मृत्तिका । आकाशादि नाम सच्चेत्कारणं स्यात्तेष्वसतोऽनुवृत्तिरवश्यमेव स्या । त् असदाकाशं इत्येवं रूपं अभिधानमपि स्यात् । किन्तु आकाशोऽस्तीति व्यवह्रियते जनैर्न सदाकाश इति सदस्ति च पर्यायवाचकः आकाशादीनामुत्पत्तितः प्राक् सदासीत्पश्चादपि सत्स्थास्यति । "आत्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादिश्रुतिरपि सत्कार्यवादिनी, अतो यथा सदाकाशादीनां कारणं न तथाऽसत् ।

हर वक्त उत्पत्ति हो सकती है । परन्तु ऐसा दिखाई नहीं पडता इसलिये असत जगत्का कारण नहीं हो सकता ।

शंकाः—सत् ब्रह्मको तुम कारण मानोगे तो ब्रह्म, सत् और नित्य होनेसे हरवक्त ब्रह्मसे सृष्टि क्यों नहीं होती है ?

समाधानः—जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उस में वह अनुगत रहता है—जैसे घट में मिट्टी । आकाशादिओंका असत् कारण होता तो आकाशादि में अवश्य अनुवृत्ति होती थी अर्थात् असत् आकाश इस प्रकार कथन भी हो सकता था, परन्तु सब लोग बोलते हैं 'आकाश है' ।

आकाशका होना और सत्‌रूप एक ही अर्थका प्रकाशक हैं । आकाशादिकी उत्पत्तिके पहले सत्‌रूप था पीछे भी सत्‌रूप रहेगा ।

आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुई है, इस प्रकार श्रुति भी सत् कारणका ही प्रतिपादन कर रही है । इस लिये जैसा सत् आकाशादिका कारण है, असत् वैसा कारण नहीं है ।

केषांचिन्मते आकाशो नित्यः परन्तु नैतत्सतां ग्राह्यं श्रुतौ आकाशोत्पत्ति–श्रवणादुत्पन्नस्य च नाशदर्शनात् । अत आकाशस्य सत्ता ब्रह्मसत्तावन्न निरपेक्षिका । सत्तामन्तरेणाकाशो न प्रतीयते किन्तु आकाशमन्तरेणापि सत्तोपलभ्यते । शून्यबुद्धिमपि तिरस्कृत्य यदा तूष्णीं स्थीयते तदा यदनुभूयते तदेव सद्रूपम् । अथवाऽवकाशदानमेवाकाशस्य स्वभावः । कार्योत्पत्तेः प्रागवकाशदानं न संभवति यतो वस्तुहीनोऽवकाशो न कुत्रापि दृश्यते । अतः सर्वकल्पनाश्रयत्वेन लाघवात्सद्रूपमेव कल्पनीयम्, तदेव ब्रह्म । तस्यैव जगत्कारणत्वमुक्तम् । ब्रह्म जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणं न तु नैयायि-

---

भाषान्तरः—किसीके मत में आकाश नित्य है परन्तु यह मत सत्पुरुषोंका ग्रहणीय नहीं है क्योंकि श्रुति में आकाशकी उत्पत्ति सुनी जाती है । और जो जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसका नाश भी देखाई पडता है । इसलिये आकाशादिकी सत्ता ब्रह्म सत्ताके समान निरपेक्ष नहीं है अर्थात् सापेक्षिक है । सत्ताको नहीं लेकर आकाशकी प्रतीति नहीं हो सकती परन्तु आकाशको नहीं लेकर सत्ताकी उपलब्धि हो सकती है जैसे शून्य बुद्धिको भी तिरस्कार (छोड) करके जिस वक्त चुपचाप बैठा जाता है । उस वक्त जो कुछ अनुभूत होता है वही सद्रूप है अथवा अवकाश देना ही आकाशका स्वभाव है । कार्योत्पत्तिके पहले अवकाशदान असंभव है क्योंकि वस्तु है ही नहीं और अवकाश दे रहा है । इस प्रकार कोई भी स्थान में देखाई नहीं पडता । इसलिये सारी कल्पनाओंकी आश्रय और लाघवताके लिये सद्रूप कल्पना करना ही अच्छा है । वही ब्रह्म है । उसको ही जगत्का कारण बोला गया है । ब्रह्म जगत्का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है । नैयायिक

केश्वरवत्केवलं निमित्तकारणं सांख्यानां प्रकृतिवदुपादानं वा। घटस्य निमित्तकारणम्। कुम्भकारो यथा घटाद्भिन्नास्तिष्ठति न तथेदं निमित्तकारणम्। घटे मृत्तिकावद्ब्रह्म जगदुत्पत्तेः प्राक् पश्चान्मध्ये चानूस्यूतं तिष्ठति। अतोऽस्योपादानत्वमपि स्वीक्रियते। घटे नष्टे न कुम्भकारेऽसौ लीयते, अतो निमित्तकारणं स उच्यते न तु उपादानकारणम्। आकाशादि पञ्चभूतात्मकं जगत्कदाचिदपि सत् स्वरूपं न जहाति। सद्रूपस्याविनाशित्वान्न क्रिया, अनाश्रितत्त्वान्न धर्मः त्रिकालाबाध्यत्वान्न जातिः। सदसद्भिरहव्यापकत्वमपि नास्य विद्यते, सतोऽस्य जन्म सद्रूपेणास्य स्थितिः सति चास्य लयं दृष्ट्वा सदेवास्य कारणं नाणुः प्रकृतिर्वा। उभयोर्जडत्वात्। जडवस्तुनः स्वतः

लोग जैसे ईश्वरको निमित्त कारण मानते हैं और परमाणुओंको उपादान कारण मानते हैं अथवा सांख्य लोग जैसे प्रकृतिको उपादान कारण मानते हैं, ब्रह्म वैसा कारण नहीं है। घटका निमित्त कारण कुम्हार जैसे घटसे भिन्न रहता है वैसा यह निमित्त कारण नहीं है। घट में जैसा मिट्टी वैसा जगत् उत्पत्तिके पहले, पीछे और मध्य में भी ब्रह्म अनुगत रहता है। इस लिये उसका उपादानपणा भी स्वीकार किया जाता है। घट नष्ट होनेसे कुम्हार में उसका लय नहीं होता। इसलिये कुम्हार को निमित्त कारण बोला जाता है और वह उपादान कारण नहीं हो सकता। आकाशादि पंचभूतात्मक शरीर कभी भी सत् स्वरूपको नहीं छोडता। सत्‌रूप अविनाशी होनेसे क्रिया नहीं है। तीन काल में अबाध्य होनेसे जाति भी नहीं है। सत्, असत्, दोनोंसे भिन्न रूप भी यह नहीं है। सत्से इसकी उत्पत्ति, सद्रूप में स्थिति और सत् में इसका लय देखकर सत् ही जगत्का कारण अनुमान किया जा सकता है। अणु और प्रकृति दोनों जड होनेसे जगत्का उपादान कारण नहीं

प्रवृत्तिर्न दृश्यते । दृश्यते चेद् चुम्बकलोहयोः न सा बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिरिति विज्ञेयम् । जगत्यस्मिन्नानाबुद्धिमत्ता दृश्यते विचित्रता च । अतोऽणूनां जडप्रकृतेर्वा यादृच्छिकप्रवृत्तेः कार्यमिदमिति न संभाव्यते ।

यथा सत्स्वरूपं ब्रह्म जगत उपादानं कारणं तथा चिद्रूपं अस्य निमित्तकारणं, अतोऽभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्म जगतः कारणं जगद्दृष्ट्वा अनुभूयते ।

॥१॥ "तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय" इत्यादि श्रुतिवाक्येषु ब्रह्मणः ईक्षणं श्रूयते, तच्च न प्रकृतेर्नाणूनां वा संगच्छते अतश्चिद्रूपस्य ब्रह्मण एव सर्वज्ञत्वं चिद्रूपत्वं च सिद्ध्यति ।

हो सकता । जडवस्तु आपही प्रवृत्त होती है ऐसी कोई स्थान में देखाई नहीं पडती । ऐसा कहो कि चुम्बक और लोह दोनों जड होते हुए भी प्रवृत्ति होती है तो वह प्रवृत्ति बुद्धिपूर्वक नहीं होती ऐसा जानना चाहिये । इस जगत् में नाना प्रकारकी बुद्धिमत्ता और विचित्रता देखाई पडती हैं । इसलिये जड अणु अथवा प्रकृतिके ख्याम खयाल प्रवृत्तिसे यह जगत् हुआ है इस प्रकार बोला नहीं जा सकते ।

भाषान्तरः—जैसे सत्स्वरूप ब्रह्म जगत्का उपादान कारण है वैसे चिद्रूप इसके निमित्त कारण है अतः अभिन्न निमित्त उपादान जगत्का कारण है । जगत्को देखकर अनुमान किया जा सकता है । ब्रह्मके चिद्रूपका यहाँ विचार किया जा रहा है ।

भाषांतरः—"तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय" अर्थ यह है कि ब्रह्म ईक्षण किया और सोचा मैं बहु होकर जन्म लूँगा । इस श्रुतिके वाक्यसे ब्रह्मका ईक्षण (दृष्टि) सुनी जाती है । परन्तु वह ईक्षण प्रकृति अथवा अणुके नहीं हो सकते । इसलिये चिद्रूप ब्रह्मको ही सद्रूपना और सदनुगता सिद्ध होती है ।

॥ २ ॥ आकाशादि पदार्थाः स्वं वाऽन्यं वा न प्रकाशयितुमर्हन्ति, परन्तु ते प्रकाशन्ते। यस्मादेतेषां प्रकाशस्तद्ब्रह्म चिद्रूपमेव स्वीकरणीयमन्यथाप्रकाशाभावाज्जगदान्ध्यप्रसंगः स्यात्।

॥ ३ ॥ अणूनां मिलनाच्चिद्रूपं यदि उत्पद्येत सिकतास्वपि तैलं विन्देत। यथैकोऽन्धो न पश्यति तथा पञ्चानां समवायेऽपि ते न पश्यन्ति। अणूनां स्वप्रकाशार्थमपि चिद्रूपं स्वीकरणीयम्।

॥ ४ ॥ नित्यत्वाच्चिद्रूपस्य सृष्टेः प्राक् तद्विषया आलोचनाऽपि संगच्छते। ये तु चितः प्रागभावं मन्यन्ते ते प्रष्टव्याश्चित् स्वयमेवात्मानं अनुभवति परेण वानुभूयते। नान्त्यः चिदन्यस्य जडत्वात्। जडस्यानुभवः कुत्रापि न दृश्यते। नापि

भाषान्तरः—आकाशादि जितने पदार्थ हैं वे अपनेको और दूसरे को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। परन्तु जिससे प्रकाशित हैं उस ब्रह्मको चिद्रूपही मानना पडेगा नहीं तो प्रकाशके अभावसे जगदान्ध्य अर्थात् जगत् में किसी वस्तुका भी प्रकाश नहीं होगा।

भाषान्तरः—अणुओंके मिलनसे चिद्रूप उत्पन्न हो जाय तो रेतीसे भी तेल निकाल सकेगा। जैसे एक अंधा नहीं देख सकता वैसे पांच अंधे इकट्ठे होनेसे भी नहीं देख सकेंगे। अणुओंको अपने प्रकाशके लिये भी चिद्रूपका स्वीकार करना चाहिये।

भाषान्तरः—चित्‌रूप नित्य होनेसे सृष्टिके पहले भी सृष्टिविषयक आलोचना हो सकती है। जो लोग चित्‌का प्रागभाव मानते हैं, उनको पूछना चाहिये "चित् आपही आपको अनुभव करता है अथवा दूसरा करके अनुभूत होता है।" शेष पक्ष तो नहीं बनता क्यों कि चित्‌को छोडकर और सब जड हैं। इसलिये जडका अनुभव कभी दिखाई नहीं

प्रथमः कर्तृकर्मविरोधात् । चिदा चिदनुभूयते चेदत्र प्रष्टव्यः । तच्चिदात्मनो भिन्नमभिन्नं वा । प्रथमे अद्वैतहानिः, तत्स्वीकरणेऽपि चित्प्रतियोगिकाभावश्चिद्रूपग्रहणमन्तरेण न गृह्यते, गृहीतश्चेत्तदपि घटादिवदचिद्रूपमेव स्यात् । द्वितीये कर्तृकर्मविरोधत्वान्न चिदा चिद्ग्रहणम् ।

॥ ५ ॥ चिच्चेन्न स्वतः सिद्धं, तदा वक्तव्यमेतदपरेण प्रकाशितम् सत् विषयं प्रकाशयतीति । वाक्यान्तरेण परप्रकाश्यमप्रकाशं वा स्यात् । स्वयमप्रकाशं सत् स्वविषयं चित्प्रकाशयतीति न समीचीनं भाति, यद्येवं स्याच्चिद्विषये प्रमाणाभावा-

---

पडते। पहले पक्ष भी नहीं बनता क्यों कि उस में कर्ता कर्मका विरोध (जो कर्ता है वही कर्म है) यह असंभव हो जाता है। चित् ही चित्को अनुभव करता है। ऐसा कहो तो मैं तुमको पूछता हूँ—यह चित् अपनेसे भिन्न या अभिन्न है। पहले पक्ष में अद्वैतकी हानी होगी। कोई प्रकारसे स्वीकार भी किया जाय तो चित् प्रतियोगिक जो अभाव है वह चित् रूपको ग्रहण नहीं करके गृहीत नहीं होते। और उसका भी ग्रहण हो जाय तो वह भी घटादिकके समान अचित्रूप ही हो जायगा। द्वितीय पक्ष में कर्ता कर्म विरोध दोष होनेसे चित्से चित् का ग्रहण नहीं हो सकता।

भाषान्तरः—चित् स्वतः सिद्ध नहीं हो तो बोलना चाहियेः—वह चित् दूसरेसे प्रकाशित होकर विषयको प्रकाश करता है अथवा अप्रकाशित रहकर विषयको प्रकाशित करता है। दूसरे वाक्यसे चित् पर प्रकाश्य अथवा अप्रकाश्य होगा। आप खुद अप्रकाशित होकर अपने विषयको प्रकाशित करेंगे यह बात तो ठीक नहीं माल्म पडती। ऐसा हो तो चित् विषयमें कोई प्रमाण नहीं रहनेसे उसका स्वरूपकी ही

त्तस्य स्वरूपासिद्धिः। स्वरूपासिद्धं वस्तु न विषयान्तरसाधकम्। पदार्थस्य सत्ता निश्चयार्थं प्रकाशमपेक्षते। अतोऽज्ञातं सत् चिद्विषयस्य साधकं भवेदिति रिक्तं वचः। न वा चित्परप्रकाश्यं सत् विषयं साधयितुमर्हति। यतः पूर्वचिदपि अपरेण प्रकाशितं सत् विषयं प्रकाशयेत् द्वितीयं च तृतीयेन इत्यनेनानवस्थाप्रसङ्गः। अत्रायं निष्कर्षः—चिच्चेन्न स्वप्रकाशं स्यात्तस्य जडत्वं जायतेऽसत्तापत्तिरपि अनिवार्या स्यात्, परप्रकाशस्वीकारे अनवस्थाप्राप्तिः। अनवस्थाप्राप्तौ प्रथमचिति असिद्धौ जगदान्ध्यप्रसङ्गः। अतश्चिद्रूपमवश्यं स्वप्रकाशं स्वीकरणीयमिति। यथा दीपः स्वप्रकाशाय प्रकाशान्तरं नापेक्षते तथा चिद्रूपं ब्रह्मस्वप्रकाशत्वान्नान्यमपेक्षते। यतः स्वप्रकाशं ब्रह्मातो

सिद्धि नहीं होगी। जिसका स्वरूपही असिद्ध है वह विषयान्तरका साधक नहीं हो सकता। पदार्थके सत्ताका निश्चय करनेके लिये प्रकाशकी अपेक्षा है। चित्के प्रकाश नहीं हो तो चित् हो इसमें प्रमाण क्या होगा ? इस लिये चित् के सत्ता (अस्तित्व) का निश्चय करनेके लिये प्रकाशपणाकी अपेक्षा है। इस लिये चित् अज्ञात होकर विषयको साधक होगा। इस प्रकार वचन झूठा है। और चित् परप्रकाश्य होकर भी विषयको साधक नहीं हो सकता, क्यों कि पहले चित् भी दूसरे प्रकाशसे प्रकाशित होकर विषयको प्रकाशित करेगा, दूसरा चित् तिसरासे, इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त हो जायगा। दूसरेसे प्रकाशित हो तो अनवस्था प्राप्त हो जायगी। अवस्था प्राप्ति होनेसे जब पहले चित् ही असिद्ध हो गया तब जगदान्ध्य प्रसंग हो जायगा। इस लिये चिद्रूपको अवश्य ही स्वप्रकाशित मानना पडता है। जैसे दीप अपने प्रकाशके लिये दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखते वैसे ही चित् रूप

नाप्रकाशं कदाचिद्व्रजेत् । यद्वस्तु कदाचिदप्रकाशं स्थातुमर्हति न तस्य स्वप्रकाशत्वमपि संगच्छते । नच तत्प्रकाश्यं ग्राहकान्तराभावाच्चिदविषयम् । अविषयस्य प्रकाशान्तरापेक्षाऽपि नास्ति अतो न चानवस्थाप्राप्तिः ।

विषयस्य सत्ता, भानं च युगपद्भवतः । सत्तामन्तरेण भानं, भानान्तरेण वा सत्ता न कदाचिदुपलभ्यते । सा सत्ता स्वकीया परकीया वा भवेन्नात्र विचारणा, परन्तु सत्ताभावेन भानं न सम्भवति । सत्ताभानं च यद्यपि शब्दमात्रेण विभिद्यते न तु स्वरूपतः । अन्योन्यसहायत्वात्तयोर्न भिन्ना स्थितिः यदन्तरेण यन्न स्थातुमर्हति तदपि तत्स्वरूपमेव । यथा सूर्यः

ब्रह्म अपने प्रकाशके लिये दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखते । इससे यह प्रमाण हुआ—ब्रह्म स्वप्रकाश होनेसे कभी भी अप्रकाश नहीं रह सकता । जो वस्तु कभी अप्रकाश ठहरता है उसके अप्रकाशपणा भी सिद्ध नहीं हो सकता । चित् दूसरेसे प्रकाशित भी नहीं है क्यों कि उसका ग्राहक दूसरा कोई नहीं है । ग्राहकके अभावसे ही चित् अविषय है । जो वस्तु अविषय होता है उसको प्रकाशान्तरकी अपेक्षा भी नहीं है । इस लिये अनवस्था दोष भी प्राप्त नहीं होता ।

विषयकी सत्ता और भान एक साथ ही होते हैं । सत्ताको छोडकर भान, और भानको छोडकर सत्ता कोई स्थान में भी उपलब्ध नहीं होता । वह सत्ता अपनी व परायी है, इस विषय में विचार करना फजुल है । परन्तु सत्ताके अभावसे भान नहीं हो सकता । सत्ता और भान यद्यपि शब्द मात्रसे अलग हैं परन्तु स्वरूप करके नहीं है । एक दूसरेका सहायक होनेसे वे अलग नहीं ठहर सकते । जिसको छोडकर जो नहीं ठहर सकता वह भी तत्स्वरूप ही है, जैसे सूर्य और उसका प्रकाश ।

प्रकाशश्च । सच्चिद्रूपविचारेण ज्ञायते ते ब्रह्मणः स्वरूपे, आकाशादिपदार्थेषु घटे मृत्तिकावदवतिष्ठते । इदानीमानन्दस्वरूपमपि विचार्यते ।

ब्रह्मविषये श्रुतिरेव प्रबलं प्रमाणम् । युक्तिरनुभवश्च तस्य सहायकौ श्रुत्यनुकूले न तयोः प्रामाण्यं न तु स्वातंत्र्येण, अतीन्द्रियब्रह्मविषये युक्तेरनुभवस्यापि न स्वातंत्र्येण प्रामाण्यं, अनवस्थाप्रसङ्गात् । न तावद्ब्रह्म स्वर्गादिवच्छास्त्रवेद्यम् । यद्येवं स्यान्न तस्य स्वर्गादिवदपरोक्षज्ञानं कदाचित्संगच्छेत । परन्तु तस्यापरोक्षज्ञानमस्त्येव तेन दुःखास्यात्यन्तिकनिवृत्तिरपि दृश्यते श्रूयते च । अतो नैतत्केवलं शास्त्रगम्यं, युक्त्यनुभवगम्यञ्च ।

सत् चित् रूपका विचार करनेसे मालूम होता है वे ब्रह्मके स्वरूप हैं। आकाशादि पदार्थों में घट में मृत्तिका के न्याय वे रहते हैं । अब आनन्द स्वरूपका मैं यहाँ विचार कर रहा हूँ ।

ब्रह्मके विषय में श्रुति ही प्रबल प्रमाण है । युक्ति और अनुभव श्रुति की ही सहायता करते हैं । श्रुति के अनुसार ही प्रमाणता है न कि स्वातंत्र्यसे । अतीन्द्रिय ब्रह्म विषय में युक्ति और अनुभवका स्वातंत्र्य प्रामाण्य नहीं है क्यों कि ऐसा माना जाय तो अनवस्था प्राप्त हो जायगी । और ब्रह्म स्वर्ग नरकादिके समान खाली शास्त्रों से जाना जायगा, ऐसा भी नहीं । ऐसा होता तो ब्रह्मका स्वर्गादिके न्याय अपरोक्ष ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता था । परन्तु ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होता है और दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति भी उससे दिखाई पडती है और सुना जाता है । इस लिये ब्रह्म खाली शास्त्रगम्य नहीं है । युक्ति और अनुभवसे भी ब्रह्मको जाना जा सकता है ।

"आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते को वान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इत्यादि श्रुतिवाक्येभ्य आनन्दाद्विश्वस्योत्पत्तिः श्रूयते। परन्तु विश्वे प्रायशो दुःखमेव दृश्यते। यदि ब्रह्म आनन्दस्वरूपमेव स्यात्। तस्य कार्यत्वाज्जगत्यपि आनन्दः प्रतीयेत। अन्यथा कार्ये कारणस्वरूपस्याविद्यमानत्वान्न कार्य-कारण-भावः। अतः सच्चिद्वत् कार्ये आनन्दोऽपि सर्वदा स्थातव्यः। ब्रह्मणि चेत्सुखं भवेत्सर्वत्र सर्वदा तदुपलभ्येत। न चोपलभ्यते अतो ब्रह्मणि सुखं नास्तीति चेन्न ब्रह्मणि सुखं नास्ति चेन्नास्तु परन्तु ब्रह्म सुखस्वरूपमेव। स्वप्रकाशं ब्रह्म पूर्वमेव प्रतिपादितम्। स्वप्रकाशस्वरूपस्य सिद्धये नान्यत्प्रमाणमपेक्षते। स्वकीयानुभव एवात्र

भाषान्तरः—"आनन्दसे ये सारे भूतोंकी उत्पत्ति हुई है। कौन खा सकता था और कौन प्राण धारण कर सकता था। यह आकाश आनन्दमय नहीं होता तो" इत्यादिक श्रुति वाक्यसे भी आनन्दसे विश्वकी उत्पत्ति सुनी जाती है। परन्तु संसार में दिखाई पडती है प्रायः करके सब दुःखी है। ब्रह्म आनन्द स्वरूप होता तो उसका कार्य जगत् भी आनन्दमय होना था। ऐसा नहीं हो तो कार्य में कारणका स्वरूप अविद्यमान रहनेसे कार्यकारण भाव ही नहीं हो सकता। इस लिये सत् चित्के न्याय कार्य में भी आनन्द हरवक्त रहना चाहिये। ब्रह्म में सुख हो तो हरवक्त हरेक स्थान में उसकी उपलब्धी क्यों नहीं होती ? इस लिये ब्रह्म में सुख है ही नहीं ऐसा मानो; ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसको बोलना चाहिये—ब्रह्म में सुख नहीं हो तो नहीं होने दो, परन्तु ब्रह्म सुख स्वरूप ही है। ब्रह्म स्वप्रकाशरूप है यह बात मैं पहले विचार करके आया हूँ। स्वप्रकाश स्वरूपकी सिद्धिके लिये दूसरा प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। अपने अनुभव ही इस में एकमात्र प्रमाण है। सुषुप्ति में

प्रमाणमस्तु । सुषुप्तिकाले यत्सुखमनुभूयते, कस्य तत्सुखम् ? येन सुखमनुभूयते तत्साधनं किञ्चिदप्यत्र न विद्यते । अपि तु सुषुप्तौ सुखानुभवाय विषयग्राम्यसुखं तत्रोपेक्षते । सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषमित्यादि सुप्तोत्थितस्य परामर्शदर्शनात्सुषुप्तौ सुखमनुभूतमिति ज्ञायते । नाननुभूतस्य स्मृतिर्भवति; सुखं चेन्नानुभूतमासीन्न तस्य स्मरणं सम्भवति । सुखमज्ञानं च स्मृत्यानुमीयते । नैतत्सुखं विषय-जन्यं इन्द्रिय-जन्यं वा तत्र तेषामदर्शनात् । नापि अज्ञान-जन्यं तत्सुखं जडत्वात् । ब्रह्मातिरिक्तं नान्यस्य तत्सुखं केनाप्युपायेन कल्पयितुं शक्यम् । जाग्रत्स्वप्नकाले चित्तं विषयान्तरेण विक्षिप्तत्वान्न तयोः सुखभानम् ।

जो सुख अनुभूत होता है वह सुख किसका है ? जिससे सुख अनुभूत होता है उसका साधन थोडा भी वहाँ कुछ नहीं है । परन्तु सुषुप्ति के सुख लेनेके लिये स्त्रीआदिक ग्राम्य सुखों की लोग उपेक्षा करते हैं । 'मैं सुखपूर्वक सो गया था । कुछ भी नहीं जाना ।' इस प्रकार सुषुप्ति से उठा हुआ पुरुषकी स्मृतिसे सुषुप्ति में सुख अनुभूत हुआ था, इस प्रकार जाना जाता है । जिस पदार्थको अनुभूति नहीं होती उसकी स्मृति भी नहीं बनती । सुख अनुभूत नहीं होता तो उसका स्मरण भी नहीं हो सकता था । सुख और अज्ञान स्मृतिसे अनुमित होते हैं । वह सुख विषयसे उत्पन्न नहीं है और इन्द्रियोंसे भी जन्य नहीं है क्यों कि उस वक्त विषय और इन्द्रियां सब लीन थे । और अज्ञानसे उत्पन्न भी नहीं माना जा सकता है क्यों कि अज्ञान जड है । जडका आनन्द कोई कल्पना नहीं कर सकता । इस लिये ब्रह्म व आत्मासे भिन्न दूसरेका सुख कोई भी उपायसे कोई कल्पना नहीं कर सकता । जाग्रत् और स्वप्न काल में चित्त दूसरे विषय में विक्षिप्त रहनेसे सुखका भान नहीं रहता ।

चंचले चित्ते सुखस्वरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिविम्बो नाभासते। चंचले जले मुखविम्बवत्। स्थिरे चित्ते तु सुखस्य भानं अनुभवश्च जायते। यथा, सूर्यप्रतिविम्बः समं सर्वत्र पतितोऽपि दर्पणादिषु प्रतिविम्बतें नान्यत्र स्पष्टं प्रकाशते, तथा ब्रह्मानन्दः सर्वत्र स्थितोऽपि शुद्धान्तःकरणे तस्य प्रकाशो जायते नान्यत्र। अथवा अग्निजले यदा संक्रामति तदा तस्योष्णतैव तत्र प्रतीयते न तु तस्य स्वाभाविकः प्रकाशस्तथा जडचेतनेषु ब्रह्म सर्वत्रास्तिभातिरूपेण वर्तमानमपि जडं तस्य सत्तायाः चेतने तस्य सच्चिद्रूपयोः शुद्धान्तःकरणे सच्चिदानन्दस्य प्रकाशो जायते। अन्धः सूर्यं न पश्यति न तेन यथा सूर्याभावोऽनुमी-

---

चंचल चित्त में सुख स्वरूप ब्रह्मका प्रतिबिम्ब नहीं भासता। जैसे हिले हुए जल में मुखका प्रतिबिम्ब नहीं भासता है। जल सब स्थिर होता है तब सुखका भान और अनुभव दोनों होते हैं। जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब सारे पदार्थपर पडते हुए भी जलदर्पणादिक में उसका प्रतिबिम्ब भासता है और दूसरी जगह में उसका स्पष्ट प्रकाश नहीं होता; वैसे ही ब्रह्मानन्द सब जगह में होते हुए भी शुद्ध अंतःकरण में उसका प्रकाश होता है दूसरे चित्त में नहीं। अथवा जल में जब अग्निका संक्रमण होता है तब उसकी उष्णता उस में प्रकाशित होती है। परन्तु उसका स्वाभाविक प्रकाश जल में प्रकाशित नहीं होता, वैसे जड चेतन सारे पदार्थों में ब्रह्मकी अस्ति और भातिपणाका वर्तमानत्व होते हुए भी जड में उसकी सत्ताकी, चेतन में उसके चिद्रूपकी और अंतःकरण में सच्चिदानंद रूपके प्रकाश होते हैं। अन्ध सूर्य को देखता नहीं है इस लिये नहीं माना जा सकता है कि सूर्य है ही नहीं, वैसे ही अज्ञान

यते तथैवाज्ञानतिमिरान्धस्य ब्रह्मानन्दो न भासते नैतावता तस्यासत्तापत्तिः ।

सुषुप्त्यवस्था जीवस्य ब्रह्मप्राप्तेः स्थानं, तदासौ पार्थिव-दुःखैर्नाभिभूयते । तदा अन्धोऽनन्धो भवति, रोगी नीरोगी भवति, महापातक्यपि तदा सर्वपापेभ्यः प्रमुच्यते । सुषुप्त्य-वस्थायां मुक्त्यवस्थायां च न किञ्चिद्भेदस्तत्रोपलभ्यते । सुषुप्ति-काले चेदज्ञानं न तिष्ठेत्तदा सर्वे मुच्येरन्, पुनः संसारप्राप्तेः सम्भावनाऽपि न भवेत् । गुरुशास्त्रोपदेशमन्तरेण अज्ञानं न निवर्तते, सुषुप्त्यवस्थाऽपि न कस्यचित्स्वेच्छया आगच्छति । अतो जाग्रदवस्थायामपि सुषुप्तिसुखानुभवलाभाय प्रबलपुरुष-कारो यत्नश्चाधेयः ।

अंधारीसे अंधे हुए मूर्ख के पास ब्रह्मानंद नहीं भासता, इससे ऐसा नहीं मानना कि ब्रह्मानंद है ही नहीं ।

सुषुप्ति अवस्था जीवकी ब्रह्मप्राप्तिका स्थान है । उस वक्त जीव सांसारिक दुःखसे अभिभूत नहीं होता । अन्ध भी सुषुप्ति में अनन्ध हो जाता है, रोगी नीरोगी हो जाता है, महापातकी भी महापातकसे उस वक्त छूट जाता है । सुषुप्ति अवस्था में और मुक्ति अवस्था में, इन दोनों में थोडासा भी भेद नहीं है । सुषुप्ति काल में अज्ञान नहीं होता तो सब लोग मुक्त हो जाते थे । और फिर संसार प्राप्तिकी संभावना भी नहीं होती थी । परन्तु गुरु और शास्त्र उपदेश छोडकर किसीका अज्ञान नहीं छूटता । और सुषुप्ति अवस्था भी किसीकी कभी भी अपनी इच्छासे नहीं आ सकती । इस लिये जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्तिके सुखको अनुभव करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ (प्रयत्न) करना चाहिये ।

समाधिपाटवेन तत्सुखं निरन्तरं योगिनां भवितुमर्हति। ननु, सुषुप्तौ यथा दुःखं नास्ति तथा सुखमपि नास्ति लोष्ट्र-प्रस्तरादिवज्जडतैव तत्रानुभूयते इति चेन्न। तदा सुप्तपुरुषस्य मुखकान्ति दृष्ट्वा तस्य सुखमेवात्रानुमीयते सा प्रसन्नता लोष्ट्रा-दिष्वदर्शनान्न तद्वज्जाड्यमात्रमत्रानुमीयते। मुखस्य दैन्यादि-लिङ्गेन यथा परदुःखमनुमीयते, तादृशदैन्यादिभावः प्रस्तरा-दिष्वदर्शनान्न तेषु सुखं दुःखं वा कल्पयितुं शक्योपि। सुखं दुःखं च स्वेनैवानुभूयेते, अनुभवेन च सुषुप्तौ सुखं अनु-भूयते, न दुःखमिति च स्वकीयानुभववेद्यम्। सुषुप्तौ चेत्सुखं न स्यात्किं सुकोमलशय्यादिसंग्रहेण आरामायेति चेदस्तु रोगिनां तन्न तु सुस्थकायस्य नीरोगस्य तत्समीचीनं भाति।

समाधिके अभ्याससे यह सुख हरवक्त योगीओंको हो सकता है।

शंका:—सुषुप्ति में जैसे दुःख नहीं है वैसे सुख भी नहीं है। वहाँ तो मिट्टी पत्थरके समान खाली जडताका ही अनुभव होता है।

समाधान:—उस वक्त सुषुप्त पुरुषकी मुख कांति देखकर उस में सुखका ही अनुमान होता है। यह प्रसन्नता मिट्टी पत्थरादिक में दिखाई नहीं पडनेसे सुख दुःखका अनुमान नहीं किया जा सकता है। दूसरेके मुखकी मलीनता देखकर जैसे उसके दुःखका अनुमान होता है वैसे मलिनतादिक भाव पत्थरादिक में नहीं होनेसे उस में सुख दुःखकी कल्पना भी नहीं कर सकते हो। सुख और दुःखको आप ही अनुभव कर सकते हैं। अनुभवसे सुषुप्ति में सुख जाना जाता है और दुःख नहीं है यह भी अपने अनुभवसे ही जाना जाता है। सुषुप्ति में सुख नहीं होता तो कोमल शय्यादिक साधनका संग्रह करनेकी क्या जरूरत थी? ऐसा कहो कि आराम के लिये। तो यह रोगीके लिये तो ठीक है परन्तु सुस्थ शरीरवाले और निरोगी पुरुषके लिये यह बात नहीं बनती।

साधनजन्यसुखं तु निद्रायाः प्रागनुभूयते निद्रावस्थायां यत्सुखमनुभूयते तत्तु न शय्यादिसाधनजन्यमपि तु स्वरूपसुखमेवेति ।

सुषुप्त्याद्यक्षणे सुखाभिमुखिनीबुद्धिवृत्तौ चिद्बिम्बप्रतिफलितं यत्सुखमनुभूयते तत्तु विषयसुखमिति भण्यते । अत्रापि त्रिपुटीविद्यमानत्वान्न स्वरूपसुखं लभ्यते, अतो जीवः सुखार्थी सन् श्रमापनोदनायात्मनि सुखमिच्छन् तेन सहैकीभूतः स्वयमेव सुखरूपो भवति ।

शकुनश्येनकुमारमहाराजमहाब्राह्मणादिदृष्टान्तेन श्रुतिरापामरविदुषां ब्रह्मानन्दप्राप्तिं प्रदर्शयति, पिता अपिता भवतीत्यादिवाक्येन जीवस्य जीवत्वं वारयति । पितृत्वाद्यभिमान

साधनसे उत्पन्न हुआ जो सुख वह निंद्राके पहले ही अनुभूत होता है। निद्रावस्था में जो सुख होता है वह शय्यादिकसे नहीं होता। इस लिये उसको स्वरूप सुख ही मानना पडेगा।

सुषुप्तिके किंचित् काल पहले सुषुप्तिके तरफ मुख करनेवाली बुद्धि वृत्ति में चित्–बिम्ब प्रतिफलित होकर जो सुखका अनुभव होता है उसको भी विषय सुख ही कहते हैं। वहाँ भी त्रिपुटी विद्यमान रहनेसे स्वरूप सुखका अनुभव नहीं होता। इस लिये जीव सुखकी इच्छा करके अपने श्रमको दूर करनेके लिये आत्माके साथ एक होकर खुद ही सुखरूप हो जाता है।

शकुन श्येन कुमार, महाराज महाब्राह्मणादि दृष्टान्तसे श्रुति, पामरसे लेकर विद्वान् तक सबको ही सुषुप्ति में ब्रह्मानंद की प्राप्ति दिखाई रही है। उस वक्त पिता अपिता हो जाता है इत्यादि वाक्यसे जीवका जीवत्व वहाँ निषेध कर रहा है। पितृपणादि अभिमान ही जीवके

एव सुखदुःखादिसंसारप्राप्तेर्हेतुः । अभिमाने शान्ते शोक-मोहादिसंकुलः संसारः क्षिप्रमेव विलीयते ।

सुषुप्तौ ज्ञात्रभावात्कः सुखमनुभवतीति प्रश्नो न संगच्छते । अज्ञानप्रतिबिम्बितचिदेवात्र भोक्तृपदवाच्यः । सुषुप्तिसुखं कर्मजन्यत्वान्न तस्यात्र स्वातन्त्र्यं विद्यते । तथा च श्रुतिः—
"स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके। सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति । पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः । पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततः सुजातं सकलं विचित्रम् ॥"
अतः प्रत्यहं ब्रह्मानन्दं परित्यज्यापि जीवो जाग्रत्स्वप्नेषु सुखदुःखाधीनो भवति । सुषुप्तेः प्राक्पश्चाच्च कियत्कालं यावत्

सुखदुःखादि संसार प्राप्तिके हेतु हैं । सुषुप्ति में अभिमान शांत हो जानेसे शोक मोह आदिक संसार जल्दी ही विलीन हो जाता है ।

सुषुप्ति काल में जाननेवालेका अभाव होनेसे सुखका अनुभव कौन करता है, इस प्रकार प्रश्न नहीं बनता, क्यों कि अज्ञान प्रतिबिम्बित चित् ही वहाँ भोक्ता नामसे कहा जाता है । सुषुप्तिका सुख कर्मसे उत्पन्न होनेसे उस में उसका स्वातंत्र्य नहीं है । श्रुति कहती है:—"जीव लोग में (संसार में) जीव स्वप्न में सुख दुःखको अपनी मायासे कल्पित वृत्तिसे भोग करते हैं । और सुषुप्ति काल में सारी वृत्तियां विलीन हो जानेसे अज्ञानसे अभिभूत (आच्छादित) होकर सुखरूप हो जाता है । फिर जन्मान्तरके कर्मभोगसे वह जीव स्वप्न में वा जाग्रत् में आ जाता है । जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीन पूर में (स्थान में) जो खेल करता है उससे सारे विचित्र जगत् की उत्पत्ति होती है।" इस लिये रोजरोज ब्रह्मानंदको छोडकर भी जीव स्वप्न और सुषुप्तिके अधीन होता है । सुषुप्ति

ब्रह्मानन्दस्य संस्कारो वर्ततेऽतोविषयाभावेऽपि प्रबुद्धः स्वल्पकालं तूष्णीमवतिष्ठते। पश्चाद्विषयकर्मसु व्यापृतः संस्तत्संस्कारो विलीयते ।

शङ्का—तूष्णीं स्थिते यदि ब्रह्मानन्दानुभवोऽस्तु अलसानामपि ब्रह्मानन्दलाभ इति चेन्न । यदि ब्रह्मज्ञानान्तरं कोऽपि तूष्णीं स्थातुमर्हति तस्य ब्रह्मानन्दलाभोऽस्माभिः स्वीक्रियते, परंतु गुरुशास्त्राभ्यां विना ज्ञानं न भवति। अलसस्तु तयोरभावाद्वृथा कालक्षेपं करोति। ज्ञानिमूढयोस्तु एतावानेव भेदः ज्ञानी ब्रह्म विज्ञाय सत्त्वगुणोत्कर्षात्स्वरूपसुखमनुभवति, अलसस्तु तामसगुणोत्कर्षात् निद्रादितामसवृत्त्या तेषु जाड्यमेवानुभवति न तु सुखं प्रसन्नतां वा ।

के पहले और पीछे थोडा काल तक ब्रह्मानंदका संस्कार रहता है और विषय नहीं होते हुए भी प्रबुद्ध पुरुष थोडा काल चुप करके स्थित रहता है । पीछे विषय कर्म में लिप्त होनेसे उस संस्कार विलीन हो जाते हैं ।

शंका:—चुपचाप बैठनेसे ही ब्रह्मानंदका अनुभव हो तो आलसी आदमीको भी ब्रह्मानंदका अनुभव होना चाहिये ।

समाधान:—ब्रह्मज्ञानको लाभ करके कोई चुपचाप ठहर सके तो उसको ब्रह्मानंद लाभ होगा, यह मैं भी स्वीकार करता हूँ । परन्तु गुरु और शास्त्र छोडकर ब्रह्मानंद किसीको भी नहीं हो सकता । आलसी आदमीको शास्त्र और गुरु नहीं होनेसे वह वृथा ही काल खोता है । ज्ञानी और मूढ में इतना ही भेद है कि ज्ञानी ब्रह्मको जानकर सत्त्व गुणकी वृद्धिसे अपने स्वरूप सुखका ही अनुभव करता है । और आलसी आदमीको तमोगुणकी वृद्धिसे निद्रादिक तामसिक वृत्तिसे जडताका ही अनुभव करता है । उसके सुख और प्रसन्नता दोनों नहीं होते ।

जीवो विषये सुखं विकल्प्य तदेवेच्छति, विषयप्राप्तौ क्षण-कालं चित्तं इच्छोपरमादन्तर्मुखी भूत्वा तूष्णीमवतिष्ठते तस्मिन्मनोवृत्तौ चित्प्रतिबिम्बपातेन तत्र क्षणिकं सुखमनुभूयते। मूढास्तु तत्प्रतिबिम्बितं सुखं विषयजन्यमिति मत्वा विषयान्प्रति धावन्ति। विषये चेत्सुखं स्याद्विषये विद्यमाने विषयान्तरं व्यापृतचित्तस्य तदा दुःखं न स्यात्।

जीवानां प्रत्यहं त्रिविधावस्था स्वभाववशादायाति याति च। यथा सुखदुःखोदासीनावस्थाश्चेति। तत्र सुखावस्था शुभकर्मजन्या। यदा शुभकर्मफलदानोन्मुखं भवति तदा हर्षाकारा चित्तवृत्तिर्जायते सुखं चानुभूयते। अशुभकर्मफल-दानोन्मुखे सति इच्छाभिघातजन्या द्वेषवृत्तिर्जायते तया च

जीव विषय में सुख कल्पना करके उसकी इच्छा करता है। विषय प्राप्त होनेसे थोडा काल तक चित्त इच्छाकी उपशमतासे अंतर्मुख होकर चुप रहता है। उसी चित्त वृत्ति में चित् प्रतिबिम्ब पडकर वहीं थोडा सुख अनुभव होता है। मूर्ख उस प्रतिबिम्बित सुखको विषयसे उत्पन्न हुआ जानकर विषयके तरफ ही दौडता है। विषय में सुख होता तो उस विषय वर्तमान होते हुए भी जब चित्त दूसरे विषयों में लगा रहता है उस वक्त भी उसका दुःख नहीं होता था।

रोज जीवकी तीन अवस्थायें स्वभावसे आती जाती हैं जैसे सुख-दुःख और उदासीन, ये तीन अवस्थायें हैं। इन में शुभकर्म जब फल देने को तैयार होता है (फल देनेको उन्मुख होता है) तब सुखावस्था आती है। और हर्षाकार चित्तकी वृत्ति भी होती है। उस वक्त सुखका अनुभव होता है। जब अशुभ कर्म फल देनेको उन्मुख होता है तब इच्छा में बाधा पडनेसे द्वेष वृत्ति होती है। उससे दुःखका अनुभव

दुःखमनुभूयते। द्वे सुखदुःखाकारे वृत्ती मनोजन्यत्वात्क्षण-स्थायिन्यौ। उदासीनवृत्तिस्तु जीवस्य स्वाभाविकैव तस्यां सुखदुःखाभावाद्ब्रह्मानन्द एवानुभूयते।

ब्रह्माकारा विषयाकारावृत्तिश्च जीवस्य स्वभाववशादेव भवति। तयोर्ब्रह्माकारोदासीनवृत्तिस्तु स्वत एव भवति विषयाकारावृत्तिस्तु प्रयत्नेनाभ्यासवशादुत्पद्यते दीर्घकालेन।

यथोत्पद्यमाने घटे आकाशः स्वयमेव पूर्यते, तण्डुलजलादिना पूरणं तु प्रयत्नसाध्यं तेषामपसरणेऽपि नाकाशोऽपसर्यते। तथा, सुखदुःखकारा वृत्तिः प्रयत्नसाध्यं कर्मणः फलं, ब्रह्मानन्दस्तु न कर्मजन्योऽतो न स कर्मसाध्यः। सुखं दुःखं च मनोधर्मः, शान्ते मनसि सुपुप्तौ वा नानुभूयते। अतो मनोनिरोधेन सुखदुःखो-

---

होता है। सुख दुःखकी दोनों वृत्तियां मनसे उत्पन्न होनेसे क्षणिक है। परन्तु उदासीन वृत्ति जीवकी स्वाभाविक है। उस में सुख और दुःखका अभाव होनेसे ब्रह्मानंदका ही अनुभव होता है। स्वाभाविक ही जीवको कभी ब्रह्माकार और विषयाकार वृत्ति होती है। उन में ब्रह्माकार उदा-सीन वृत्ति स्वभावसे होती है परन्तु विषयाकारा वृत्ति प्रयत्न करके और दीर्घकालके अभ्याससे उत्पन्न होती है।

जैसे जब घट उत्पन्न होता है वह आकाशसे स्वभावसे ही भर जाता है। उस में चावल ज्वार भरना अपने प्रयत्नसे होता है और उनको निकाला भी जा सकता है परन्तु आकाशको कोई नहीं निकाल सकता वैसे ही सुख और दुःखाकार वृत्तियां प्रयत्न साध्य और कर्मका फल होनेसे उसको निकाला जा सकता है। परन्तु ब्रह्मानंद कर्मसे उत्पन्न नहीं हुआ, इस लिये पुरुषकारसे उसको नहीं निकाला जा सकता। सुख और दुःख दोनों मनके धर्म हैं। मन जब शान्त हो जाता है और सुषुप्तिकाल में लीन रहता है तब सुख दुःखका अनुभव

त्तरणाय प्रयत्नः कर्तव्यः । स्वतःसिद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य स्वभावजन्यत्वान्न यत्नेन कृतेन वोत्पत्तिः वरं कर्मनिचयं ब्रह्मानन्दस्यैव परिपन्थि ।

उदासीनवृत्तौ अहंकारस्य वर्तमानत्वान्न ब्रह्मानन्दलाभः । तत्र निजानन्द एवानुभूयते । यावती यावती अहंकारविस्मृतिस्तावती तावती निजानन्दानुभूतिर्जायते । सम्यग्विस्मृतौ समाधिर्भवति, लयाभावान्नासौ निद्रा, द्वैताभासाभावान्न जाग्रत् स्वप्नो वा । अतस्तस्यामवस्थायां यत्सुखमनुभूयते स एव यथार्थो ब्रह्मानन्दः ।

सच्चितोरैकता प्रदर्शिता चिद्विहाय आनन्दो नावतिष्ठते, अतोऽभिन्नौ चिदानन्दौ । सुषुप्तौ यदि चिन्न स्वीक्रियते,

---

नहीं होता। इसलिये मनके निरोधसे जाग्रत् अवस्था में भी सुख दुःखोंसे बचनेके लिये प्रयत्न करना कर्तव्य है। ब्रह्मानंद स्वरूप होनेसे और स्वाभाविक ही उत्पन्न होनेसे प्रयत्नसे उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, बल्कि जितने कर्म हैं वे सब ब्रह्मानंदके विरोधी हैं (रोकनेवाले हैं)।

उदासीन वृत्ति में अहंकार वर्तमान रहनेसे उसको ठीक ब्रह्मानंद बोला नहीं जा सकता। उसको निजानन्द कहते हैं। अहंकार जितना क्षीण वा विस्मरण होते जायगा उतना ही निजानन्दका अनुभव होते जायगा। बिलकुल विस्मृत हो जानेसे समाधि अवस्था में उसका लय हो जाता है। उस अवस्था में (समाधि में) लय नहीं रहनेसे उसको निद्रा नहीं बोली जा सकती। प्रपंचका अभाव रहनेसे उसको जाग्रत् वा स्वप्न भी नहीं बोला जा सकता। इस लिये उस अवस्था में अर्थात् समाधि में जो सुख अनुभूत होता है वही यथार्थ ब्रह्मानंद है।

सत् और चित् की एकता मैं पहले ही बता चुका हूँ। चित् को छोडकर आनंद नहीं ठहर सकता। इस लिये चित् और आनंद दोनों

तस्याः साक्षी को भवेत्। साक्ष्यभावान्न स्मृतिरपि संभाव्या। स्मृतिर्भवति तत्कार्येण च साक्षि चिदनुसन्धेयमिति।

सत् चित् आनन्दश्च ब्रह्मणो विभिन्नं लक्षणम्। असद्व्यावृत्तये सत्, जडत्वव्यावृत्तये चित्, दुःखादिव्यावृत्तये आनन्द-पदं देयम्। ब्रह्म तु स्वरूपतः एकमेवाद्वितीयं स्वजातीय–विजातीय–स्वगत–भेदरहितम्। तथैव श्रुतौ असत्य (मिथ्या) व्यावृत्तये सत्यं, एकदेशनिवृत्तये पूर्णं, परिच्छिन्नत्वनिवृत्तये-ऽनन्तं पदमुक्तम्।

अतः सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म, सच्चिदानन्दं ब्रह्म इत्यादि ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणज्ञापकं वाक्यम्। "जन्माद्यस्य यतः" सृष्टिस्थितिलयकारणम् ब्रह्मेति वाक्यं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणं

अलग नहीं है। सुषुप्ति में चित् (ज्ञान) स्वीकार नहीं किया जाय तो उसका साक्षी कौन होगा? और साक्षीका अभाव होनेसे स्मृति भी नहीं हो सकेगी। स्मृति होती है इसके कार्यसे साक्षीका भी अनुमान हो सकता है। वह साक्षी चित् रूप है।

सत् चित् और आनन्द तीन ब्रह्मकें लक्षण हैं। असत्से अलग करनेके लिये सत्पद दिया गया। जडसे अलग करनेके लिये चित् पद दिया गया। दुःखसे अलग करनेके लिये आनन्द पद दिया गया है। परन्तु ब्रह्मस्वरूप करके "एकमेवाद्वितीयं" अर्थात् स्वजातीय विजातीय और स्वगत भेदसे रहित है। वैसे ही श्रुति में असत्योंसे अलग करनेके लिये सत्यपद दिया है। एक देशसे अलग करनेके लिये पूर्णपद दिया है। परिच्छिन्नतासे अलग करनेके लिये अनन्त पद दिया गया है।

अनुवादः—इस लिये सत्यज्ञान अनन्तरूप ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म इत्यादिके ब्रह्मके स्वरूप लक्षण बतानेवाले वाक्य हैं। इस जगत्की सृष्टि जहाँसे हुई है सृष्टि स्थिति लयका कारण ब्रह्म है। इत्यादिक वाक्य

ज्ञापयति। सृष्टिस्थितिलयेषु ब्रह्म समं तिष्ठति। हिरण्यगर्भस्य सुषुप्तिरेव महाप्रलयः। सुषुप्तौ निद्रादोषमाश्रित्य यथा स्वप्नो झटित्येव भासते, अथवा शीतर्तौ नष्टशुष्कमण्डूकचूर्णादपि वर्षादौ मण्डूकानां प्रादुर्भावस्तथाऽचिन्त्यशक्तियोगेन महाप्रलयान्ते सृष्ट्यादौ च ब्रह्मणि ईक्षणं (सृष्टिविषयकालोचनं) झटित्येव जायते। माया तु तस्य कारणं नान्यत्। इन्द्रजालिकशक्तिवत्सा माया ब्रह्मणि कथं केन रूपेण तिष्ठतीति दुर्विज्ञेयं, कार्यं दृष्ट्वा शक्तिरनुभायते, कार्यस्य प्राक् शक्तिरव्यक्ता कर्मकर्तुरनन्या तिष्ठति। अग्नेर्दाहिका शक्तिवत् मायाशक्तिः ब्रह्मणि अभिन्नरूपेण तिष्ठति, अतो न द्वैतापत्तेरवसरः।

ब्रह्मके तटस्थ लक्षण जनानेवाले हैं। सृष्टि, स्थिति और लय में ब्रह्म एकरूप ही रहता है। हिरण्यगर्भके सुषुप्ति ही महा प्रलय है। सुषुप्ति में निद्रादोषको आश्रय करके जैसे झटपट स्वप्न आ जाता है अथवा शीतकाल में सुखा मेण्डकके चूर्णसे वर्षाके आदि में मेण्डकका उद्भव होता है वैसे ही महाप्रलयके अन्त में अचिन्त्य शक्तियोगसे सृष्टिके आदि में ब्रह्म में भी ईक्षण (सृष्टिविषयक आलोचन) झटपट आ जाते हैं। माया ही उसका कारण है। दूसरा कोई कारण नहीं है। बाजीगरकी शक्ति जैसे उस में रहती है किसीको भी मालूम नहीं है। कार्य देखकर शक्तिका अनुमान होता है। कार्य होनेके पहले शक्ति अव्यक्तरूपसे कर्म करनेवालेसे अपृथक् रहती है। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अभिन्नरूप में रहती है मायाशक्ति भी वैसे ही ब्रह्म में अभिन्नरूप में रहती है। इस लिये माया और ब्रह्म भिन्न नहीं होनेसे द्वैतापत्ति होनेका अवसर नहीं है। अर्थात् ब्रह्म अद्वैत ही है। मायाकी सत्ता स्वतंत्र नहीं है। ब्रह्मकी सत्ता ही मायाकी सत्ता है। मायाका कोई

मायाया न स्वतन्त्रा काचित्सत्ता विद्यते, ब्रह्मसत्तैव तस्याः सत्ता सा तु स्वयं निस्तत्त्वा, कार्यगम्या सदसद्भ्यामनिर्वचनीया ।

शक्तेः कार्यस्य जगत उत्पत्तेः प्राक् एकमेवाद्वितीयमासीत् । ईक्षणमात्रेण मनो जायते । यथा शक्त्या मन उत्पद्यते तां त्रिधा विभज्य गुणत्रयं तस्या असावकल्पयत् । यथा भित्तौ चित्रकारो विविधानि चित्राणि मनसा कल्पयति तथा मायावी मायाशक्तिबलेन आकाशादीनि पंचभूतानि स्वात्मनि कल्पयति । अवकाश–स्वभाव आकाशस्तु तस्य प्रथमा कल्पना, आकाशाद्वायुः, वायोस्तेजः, तेजसः जलं, जलात्पृथिवी क्रमेणासौ कल्पयामास । निद्राशक्तिः स्वप्ने साधनमन्तरेणापि यथा विचित्रसृष्टिं रचयति, तथा मायाशक्तिर्ब्रह्मण आकाशादीन्

तत्त्व भी नहीं है । कार्यसे जाना जाता है इस लिये उसको सत् या असत् कहा नहीं जा सकता । वेदान्तों में इसीको ही अनिर्वचनीय कहा है ।

शक्तिका कार्य जगत् की उत्पत्तिके पहले ब्रह्म एक और अद्वितीय था । ईक्षण मात्र करके मन हुआ । जिस शक्तिसे उसकी उत्पत्ति हुई उसके तीन गुणकी कल्पना भी मनने ही किया । जैसे दिवार में चित्रकार हरकिसीम चित्रोंको मनसे कल्पना करता है, वैसे ही मायावी मायाशक्ति बलसे आकाशादि पंचभूतोंको अपने में ही कल्पना करती है । अवकाश स्वभाववाला आकाश, उसकी पहली कल्पना है । आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वी क्रम करके उन्होंने बनाये हैं । ब्रह्मके साथ आकाशादिओंकी अभिन्नता भी उसने ही कल्पना की । निद्राशक्ति स्वप्न में दूसरा कोई साधन नहीं होते हुए भी जैसे विचित्र सृष्टि रचती है, वैसे ही मायाशक्ति आकाशादिकको ब्रह्म में

सृष्ट्वा तेषां पृथक् पृथक्सत्त्वांशेभ्यः पंचज्ञानेन्द्रियाणि, राजसांशेभ्यः पंचकर्मेन्द्रियाणि तेषां देवताश्च स्वस्वभोगेभ्यः कल्पयामास पंचसत्त्वांशस्य समष्टितः स मनः राजशांसंसमष्टितश्च प्राणमसृजत् । तामसांशेभ्य एकैकं भागं द्विधा विभज्य, पुनः प्रथमं भागं चतुर्धा विभज्य स्वस्व अर्धभागेन मिलयित्वा पञ्चीकृतं पंचभूतानि चकार तेभ्यश्चाखिलब्रह्माण्डम् । ब्रह्माण्डस्य सत्ता ब्रह्मणो न पृथग्विद्यते । यथा मायाया सृष्टिकारिणी शक्तिरस्ति तथा मोहिनी शक्तिरपि । अतो ह्येषा सृष्टौ ब्रह्म प्रवेशयित्वा ब्रह्मभावमाच्छाद्य जीवत्वमापादयत् । माया मुग्धब्रह्मैव जीवभावमुपागतः । वस्तुतो जीवब्रह्मणोर्न भेदः । यावन्न प्रबुद्धस्तावदेव स्वप्नदृश्यं पृथगनुभूयते प्रबुद्धस्तु तानि

कल्पना करके उनके अलग अलग सत्त्वांशसे पंचज्ञानेन्द्रियाँ, राजस अंशसे पंचकर्मेन्द्रियाँ और उनके देवता अपने अपने भागोंसे कल्पना किये हैं । पाँच सत्त्वांशकी समष्टिसे उन्होंने मनको बनाया । और पाँच राजस अंशोंकी समष्टिसे प्राणको बनाया है । तामस अंशोंसे एक एक भागके दो भाग करके, पहले भागके फिर चार भाग करके, अपने अपने आधे भागके साथ मिलाकर पंचीकृत पंचमहाभूतोंको बनाये हैं । पंचीकृत महाभूतसे ही सारे ब्रह्मांडकी कल्पना की है अर्थात् बनाया है । सारे ब्रह्मांडकी सत्ता ब्रह्मसे अलग नहीं है । जैसे स्वप्नकी सृष्टि स्वप्न देखनेवालेसे अलग कुछ नहीं है; जैसे मायाकी सृष्टि करनेवाली शक्ति है, वैसे उसकी मोहिनी शक्ति भी है । इस लिये यह ब्रह्मको सृष्टि में घुसाकर ब्रह्म भावको आच्छादित करके जीव बनाया है । माया मुग्ध ब्रह्म ही जीवभावको प्राप्त हुआ वास्तवसे जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है । जबतक जाग्रत नहीं हुआ तबतक स्वप्नके दृश्य अलग अलग

स्वप्नदृश्यानि नात्मनः पृथग् मन्यते,—तथैव जीवः सच्चिदानंद-स्वरूपः सन्नपि मायया मुग्धः सन् आत्मानं मूढं मत्वा शरीरादिष्वहं ममेति वृथाभिमानं कृत्वा दुःखशोकान्वितो भवति। अहं ममेति बुद्धिरेव जीवस्य बन्धः सत्त्वज्ञानकल्पितः।

इयं कल्पनैव सृष्टिरित्यभिधीयते।

भासते हैं। जाग्रत् हुआ पुरुष स्वप्नदृश्योंको अपनेसे अलग नहीं देखता अथवा मानता; वैसे ही जीव सच्चिदानंद स्वरूप होते हुए भी मायासे अपनेको और शरीरादि में—मैं, मेरा—इस प्रकार मिथ्याभिमान करके सुखदुःखसे व्याकुल होता है। मैं, मेरा, इस प्रकार बुद्धि ही जीवका बन्धन है। वह बन्धन अज्ञान-कल्पित है, इस कल्पनाको ही सृष्टि कहते हैं।

॥ ईश सृष्टि यहाँ तक है ॥

॥ ॐ तत् सत् ॥

जीवस्वरूपम्



जीवस्वरूपमत्र विचार्यते । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयो जीवस्य त्रिविधावस्थाः जाग्रद्दशायां शब्द-स्पर्श-रूप-रसादयो भिन्नाविषयाभिन्नेन इन्द्रियेण गृह्यन्ते, परन्तु तेषां ज्ञानं न भिद्यते । यद्यथा आकाशादुत्पन्नं श्रोत्रं तद्गुणं शब्दं गृह्णाति, वायोरुत्पन्नं स्पर्शं त्वग् गृह्णाति, तेजस उत्पन्नं चक्षुस्तद्गुणं रूपं गृह्णाति, जलोत्पन्नं रसनं तद्गुणं रसं गृह्णाति, पृथिव्या उत्पन्नं घ्राणं तद्गुणं गन्धं गृह्णाति । सजातीय एव सजातीयं गृह्णाति नान्यं, यथा घ्राणेन्द्रियं रूपं न गृह्णाति ।

अनुवाद—जीवके स्वरूपका यहां विचार किया जा रहा है। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति जीवकी ये तीन अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् अवस्था में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच विषय हैं। और पाँच इन्द्रिय इनके ग्राहक हैं। परन्तु उनके ज्ञान में कोई भेद नहीं है। शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान एकरूप ही है । जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ श्रोत्र (कान) उसका गुण शब्दको ही ग्रहण कर सकता है । वायुसे उत्पन्न हुआ स्पर्श त्वचासे ग्रहण किया जाता है। तेजसे उत्पन्न हुआ चक्षु तेजका गुणरूपको ही ग्रहण कर सकता है। जलसे उत्पन्न हुई जिह्वा जलका गुण रसको ही ग्रहण कर सकती है । पृथ्वीसे उत्पन्न हुई नासिका (घ्राणेन्द्रिय) उसके पृथ्वीका गुण गन्धको ही ग्रहण कर सकती है। स्वजातीयसे स्वजातीयका ही ग्रहण हो सकता है। एक इन्द्रिय दूसरेको ग्रहण नहीं कर सकती जैसे घ्राण इन्द्रिय रूपको ग्रहण नहीं कर सकती।

यद्यपि शब्दस्पर्शादयः परस्परं भिन्नास्तथापि, शब्दज्ञानं, स्पर्शज्ञानं च ज्ञानांशेनैकरूपमेव भवति। स्वप्नेऽपि विषया भिद्यन्ते परन्तु तेषां ज्ञानं न भिद्यते। जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदः कालभेदेन, जाग्रच्चिरमवतिष्ठते स्वप्नस्तु क्षणमेवावतिष्ठते। मिथ्यात्वमुभयत्र समानमेव।

एतज्ज्ञानमेव जीवात्मा, तिसृषु अवस्थासु वर्तमानत्वादेष नित्यः। तत्तदवस्थाभासकत्वात्स्वप्रकाशश्च। परमप्रेमास्पदत्वात् प्रियतमत्वाच्च परानन्दस्वरूपः।

तस्य प्रेमास्पदत्वं च मानाभुवं भूयासमिति जीवजातस्यानुभवेन ज्ञायते। "न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।" इत्यादि

अनुवाद—यद्यपि शब्द स्पर्श आदिक परस्पर भिन्न हैं तथापि शब्दज्ञान और स्पर्शज्ञान ज्ञानांश में एकरूप ही है। स्वप्न में भी विषयके भेद होते हैं। परन्तु उसके ज्ञानका भेद नहीं होता। जाग्रत् और स्वप्नका भेदकाल भेदसे होता है। जाग्रत् अवस्था बहुत देर तक रहती है और स्वप्न अवस्था थोडा काल ही रहती है। मिथ्यापणा दोनों में ही समान है। इस ज्ञानको ही जीवात्मा कहते हैं। तीनों अवस्था में ज्ञान वर्तमान रहनेसे ज्ञान नित्य है। और उस अवस्थाका भासक (प्रकाशक) होनेसे वह स्वप्रकाश है। परम प्रेमका स्थान होनेसे और प्रियतम होनेसे ज्ञान परमानन्द स्वरूप भी है।

वह जो परम प्रेमका स्थान है उस में यह प्रमाण है कि हमारा अभाव कभी न हो। इस प्रकार सारे जीवोंके अनुभवसे जाना जाता है कि अपने जीनेके लिये इच्छा स्वाभाविक है। श्रुति भी बोलती है:—हे मैत्रेयि! पुत्रके सुखके लिये कोई कामना नहीं करता परन्तु आत्म

श्रुतिरपि आत्मनः परमप्रेमास्पदत्वे प्रमाणम् । आत्मार्थमेव पुत्रभार्यादयः प्रियाः भवन्ति । आत्मनः सुखाय यदा ते न स्युस्तदा परित्यक्ता भवन्ति । सुखसाधनरूपेण अन्नपानादयः प्रिया भवन्ति, नात्मा सुखसाधनरूपेण प्रियः । यत आत्मातिरिक्तो नान्यो भोक्ता अत आत्मा न साधनरूपेण प्रियः भोगसाधनानि तु परार्थानि भवन्ति । आत्माऽपि चेत्साधनं स्यात्तस्यापि भोक्ता कल्पनीयः परन्तु नेदृशो भोक्ता दृश्यते । आत्मा एकं विषयं त्यक्त्वा विषयान्तरं गृह्णाति, किन्तु आत्मा न च गृह्यते न वा त्यज्यते । अतो वैषयिके सुखे त्याज्ये-ग्राह्ये सत्यपि आत्मसुखं न कदाचिद्व्यभिचरति । न वा उपेक्ष्यः उपेक्षितुः । स्वस्वरूपत्वान्न स्वेनैव स्वस्योपेक्षा संभाव्यते । यत्र

कामके लिये ही पुत्र प्रिय होता है । इस श्रुति वाक्य भी आत्माके प्रेमास्पद प्रेमरूप में प्रमाण है । आत्माके लिये ही पुत्रभार्यादिक सब प्रिय होते हैं । आत्मसुख में जब वे विघ्न करते हैं तब उनको त्याग दिये जाते हैं । सुखके साधनरूपसे ही अन्नपानादिक सब प्रिय होते हैं । परन्तु आत्मा सुखके साधनरूपसे प्रिय नहीं है क्योंकि आत्मासे भिन्न दूसरा कोई भोक्ता नहीं है । इस लिये आत्मा साधन रूपसे प्रिय नहीं है । भोगके साधन दूसरेके लिये ही होते हैं । आत्मा भी साधन हो जाय तो उसका भी भोक्ता कल्पना करना पडेगा । परन्तु ऐसा भोक्ता दूसरा कोई नहीं है । आत्मा एक विषयको छोडकर दूसरे विषयको ग्रहण करता है परन्तु आत्माका त्याग वा ग्रहण दोनों नहीं हो सकते । इस लिये विषयके सुख त्याज्य ग्राह्य होते हुए भी आत्म-सुखका व्यभिचार नहीं होता । आत्मा उपेक्ष्य भी नहीं है क्यों कि जो उपेक्षा करेगा, उसका आत्मस्वरूप होनेसे, आप ही आपकी उपेक्षा करे ऐसा कोई स्थान में दिखाई नहीं पडती । रोगादिसे पीडित होकर

रोगादिना पीडितस्य, आत्मघातः श्रूयते तत्रापि शरीरं दुःखस्य कारणं मत्वा तदेव जिहासति, नतु स्वात्मानं, पारलौकीय सुखे स्पृहादर्शनात् । तीर्थादिषु मृत्युकामनापि तथैवोन्नेया । शास्त्रेषु पुत्रादिषु यदात्मत्वं श्रूयते तत्तु गौणं न मुख्यम् ।

मुमुर्षुर्न स्वकीयं धनसम्पदं रक्षितुमर्हति ततस्तत्रात्मज एव स्वशरीरात्कार्यक्षमः । अत एवोक्त "आत्मा त्वमसि"—न तु मुख्येन । पञ्चकोशाद्विविक्तोऽपि आत्मा अध्यासात्तेषु कोशेषु स्वात्मानं भ्रान्त्या तदेवात्मेति मन्यते । एष एव मिथ्यात्मा । अन्नमयादि पञ्चकोशेषु आध्यासिकतादात्म्यसम्बन्धेन सम्बद्धत्वादात्मा आत्मत्वमारोपयति । तत्र पञ्चीकृतपञ्चभूतोत्पन्नो

जो आत्मघातादिक करते हैं, वहाँ दुःखका कारण शरीरको ही जानकर उसको ही छोडना चाहते हैं । वहाँ आत्माका नाश करनेका उद्देश्य नहीं है क्यों कि परलोक में सुखकी कामना रहनेसे, विना आत्मासे उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । तीर्थादिक में मरने की इच्छा भी वैसी ही जान लेना । शास्त्रादिक में, पुत्रादिक में जो आत्मपणा सुना जाता है वह गौण है न कि मुख्य ।

मरनेवाला खुद धनसंपत्तिकी रक्षा नहीं कर सकता । वहाँ अपने पुत्र अपने शरीरसे कार्य करने में समर्थ है । इस लिये पुत्रको कहा है—'तुम मेरा आत्मा हो' मुख्य वृत्तिसे नहीं है । पंचकोशोंसे अलग होते हुए भी आत्मा उन्होंके साथ अध्यस्त होनेसे उन उन कोषों में भ्रांति करके उन उन कोषवाले अपनेको मानते हैं—इसको ही मिथ्यात्मा कहते हैं । अन्नमयादिक पंचकोषों में आध्यासिक-तादात्म्य संबंध करके, आत्मा उन उन कोषों में अपनेको आरोप करता है । पंचीकृत पंचभूतोंसे उत्पन्न हुआ देहको अन्नमय कोश कहते हैं । पंच-

देहोऽन्नमयः कोशः पञ्चकर्मेन्द्रियैः सह पञ्च प्राणाः प्राणमयः कोशः। पञ्चज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयः कोशः। पञ्चज्ञानेन्द्रियैः सह बुद्धिर्विज्ञानमयः कोशः। अज्ञानमेवानन्दमयः कोशः।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विचारिते सति तेषु आत्मत्वभ्रान्तिर्मृषैव प्रतिभाति। स्वप्नावस्थायां स्थूलदेहस्य भानमपि न विद्यते, तथापि आत्मा विद्यते स्वप्नश्चानुभूयते अतः स्थूलदेहो नात्मा। मातृपितृशोणिते नैष उत्पन्नः अन्नेन परिपुष्टः सन् अन्ने लीयते नास्य आत्मता संभवति। देहश्चेदात्मा देहमन्तरेण कुतः स्वर्गभोगः? अभावान्न भावोत्पत्तिर्नहि असद्देहात्पुनरुत्पत्तिरिति वा वाच्यं कर्मफलसांकर्यात्।

कर्म इन्द्रियके साथ पंचप्राण मिलकर प्राणमय कोष होता है। पंच ज्ञानेन्द्रियके साथ मन मिलकर मनोमय कोष होता है। पंचज्ञानेन्द्रियके साथ बुद्धि मिलकर विज्ञानमय कोष होता है। अज्ञानको ही आनन्दमय कोष कहते हैं।

अन्वयव्यतिरेक रूपसे विचार करनेसे उस में आत्मत्व भ्रांति मिथ्या जाना जाता है। स्वप्न अवस्था में स्थूल देहका भान भी नहीं रहता। वहाँ भी आत्मा रहता है और स्वप्नोंका अनुभव करता है। इस लिये स्थूल देह आत्मा नहीं हो सकता। माता-पिताके शुक्र और रक्तसे यह देह उत्पन्न हुआ है, अन्नसे पुष्ट होता है और अन्नमय पृथ्वी में इसका लय होता है। इस लिये अन्नमय कोष आत्मा नहीं हो सकता। देह ही आत्मा हो तो बिना देहसे स्वर्गका सुख कैसे हो सकता था? अभावसे कभी भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस लिये असत् देहसे पुनरुत्पत्ति होगी ऐसी भी कल्पना नहीं की जा सकती है। ऐसा हो तो कर्म फल में भी संकर हो जायगा।

प्राणः शरीरे बलं ददाति, इन्द्रियाणि च स्वस्वकर्मणि प्रेरयति, जडत्वान्न तस्यापि आत्मता प्रशस्ता । संकल्पविकल्पात्मा अहंममाभिमानि मनोऽपि नात्मा सुषुप्तौ लीयते अतो विज्ञानमयकोशोऽपि नात्मा । मनोमयविज्ञानमययोरेतावानेव भेदः; बुद्धिः कर्त्रीरूपेणान्तः परिणमते, मनस्तु करणरूपेण बहिः परिणमते इति ।

कदाचित्पुण्यभोगकालेऽन्तर्मुखिनीवृत्तौ चित्प्रतिबिम्बपातेन पुण्यफलभोगदानान्ते भोगशान्तौ निद्रारूपेण यो लीयते स एवानन्दमयः कोशः । प्रतिबिम्बरूपत्वान्नैष मुख्यात्मा । बिम्बभूत आनन्द एव मुख्यात्मा । पञ्चकोशातिरिक्तं न किमप्यनुभूयते इति न वाच्यम् । पञ्चकोशस्य भावाभावज्ञाता, साक्षी, बोध-

---

प्राण शरीर में बल देता है और सब इन्द्रियोंको अपने अपने काम में लगाता है। खुद जड होनेसे वह भी आत्मा नहीं हो सकता। संकल्प विकल्प करनेवाला मन भी आत्मा नहीं हो सकता क्यों कि सुषुप्ति में मनका भी लय हो जाता है। बुद्धि भी सुषुप्ति में लीन हो जाती है, इस लिये विज्ञानमय कोष भी आत्मा नहीं है। मनमय और विज्ञानमय कोष में इतना भेद है; बुद्धि कर्त्रीरूप में भीतर में परिणाम प्राप्त होता है। और मनका करण रूपसे बाहिर में परिणाम होता है।

पुण्य फल भोग जब आ जाता है उस वक्त अन्तर्मुख चित् वृत्ति में चित्के प्रतिबिम्ब पडकर पुण्यफलके भोग दान करनेवाली सुखाकारा वृत्ति हो जाती है। भोग शान्त होनेसे निद्रा रूप में जिसका लय होता है उसको ही आनन्दमय कोष कहते हैं। प्रतिबिम्बरूप होनेसे वह भी मुख्य आत्मा नहीं है। बिम्ब रूप आनन्द ही मुख्य आत्मा है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है कि:—पंच कोषसे अलग और कुछ भी अनुभूत नहीं होता है।

रूपात्मा कोपमन्तरेणापि राजते । स्वस्य वर्तमानत्वे कः स्वात्मानमपलपितुमर्हति । य आत्मा नास्तीति वदति स स्वस्य जिह्वा नास्तीति वदति । असदेव स भवति योऽसदात्मेति वदति ।

पूर्वोक्तविचारेण मिथ्यात्मनः मुख्यत्वं निवार्यते, इदानीं प्राकृतानां प्रवृत्तिं दृष्ट्वाऽपि मिथ्यात्मनः हेयत्वं प्रतिपाद्यते । सर्वे जना ज्ञानेन्द्रियाणां रक्षार्थं कर्मेन्द्रियं त्यजन्ति, यथा शरीररक्षार्थं सर्पदष्टामङ्गुलिं त्यजन्ति; राजदण्डेन केषांचित्प्राणदण्डे सति चक्षुर्दानेन प्राणरक्षार्थं चेष्टन्ते; स्वीय-मान-रक्षार्थं च प्राणानपि युद्धे त्यजन्ति, निश्चयात्मिकया बुद्ध्या मनो जित्वा समाधौ यतन्ते; तत्र बुद्धिमपि आत्मसुखलाभाय

पंचकोषका होना, नहीं होना, दोनोंको जो जानता है वह साक्षी बोधरूप आत्मा विना कोषसे भी रह सकता है । आप खुद वर्तमान होते हुए भी कौन अपनेको 'नहीं है' ऐसा बोल सकता है ? जो कहता है:—आत्मा नहीं है; वह ऐसा बोलता है कि उसको जिह्वा नहीं है तो भी बात कर रहा है। जो आत्माको असत् बोलता है वह खुद ही असत् है।

पूर्वोक्त विचारसे मिथ्यात्मा जो मुख्य नहीं है वह स्थिर हुआ । अब साधारण लोगोंकी प्रवृत्ति देखकर भी मिथ्यात्माको त्याग करनेके लिये योग्यताका प्रतिपादन किया जा रहा है । देखा जाता है कि सारे लोग ज्ञानेन्द्रियकी रक्षाके लिये कर्मेन्द्रियको छोडते हैं; जैसे अंगुलि में सर्प काटे तो अंगुलिको काटकर शरीरको बचानेकी कौशीष करते हैं । किसीको राजदण्डसे प्राणदण्ड हो जाय तो वह कहता है:—मुझे अंधा पा दीजिये और प्राणकी रक्षा कीजिये । अपने मान बचानेके लिये युद्ध में जाकर प्राणतक छोड देता है । निश्चयात्मक बुद्धिसे मनको

विस्मरन्ति। आत्मसुखे समाहितस्तु न किञ्चिदन्यद्याचते। एतेन देहेन्द्रियाभ्यां मनो मनसो बुद्धिः, बुद्धेरात्मा गरीयानिति स्पष्टं प्रतीयते। पूर्वोक्त-विचारेण आत्माऽपि सच्चिदानंद-स्वरूप एवेति प्रदर्शितः। अनात्मदेहादि पञ्चभूतोत्पन्नं जडं च प्रमाणितम्।

परन्तु जडचेतनयोः कथं संबन्धो जायते स एवात्र विचार्यते। ऐश्वरी शक्तिर्जगन्नियामिकेति पूर्वमेवोक्तं, सा चानिर्वचनीया भावरूपा च कथिता। अस्या आवरणविक्षेपात्मिका द्विविधा शक्तिर्विद्यते। तयोरावरणात्मिका शक्तिस्तु तस्मिन्विश्व-जगत्कल्पयति। एका माया समष्टि-शरीराभिमानमा-

---

जितकर समाधि में लगानेकी कोशीश करता है, वहाँ आत्मसुख लाभके लिये बुद्धिको भी भूल जाता है। आत्मसुख में जिसकी बुद्धि समाहित हो गई है वह कुछ भी नहीं चाहता है। इससे जाना जाता है:— देह और इन्द्रियादिकसे मन, मनसे बुद्धि, और बुद्धिसे आत्मा श्रेष्ठ है यह स्पष्ट प्रतीत होता है। जो विचार किया गया उससे आत्मा भी सच्चिदानंद स्वरूप है वह प्रमाणित हुआ। अनात्म देहादिक पंच-भूतोंसे उत्पन्न होनेसे जड है वह भी प्रमाणित हुआ।

अनुवादः—परन्तु जड और चेतन ये दोनोंका संबंध कैसे होता है उसका ही विचार यहाँ करना चाहिये। मैं पहले लिख चुका हूँ:— जगत्का नियमन करनेवाली ईश्वरी शक्ति है वह अनिर्वचनीया है। कार्यसे उसका अनुमान होता है और वह भावरूप है। उसके आव-रण और विक्षेप दो प्रकारकी शक्ति हैं। उन में आवरणात्मक शक्ति सारे जगत्के ज्ञानको आवृत करके ब्रह्मको मोहित करती है। और विक्षेपात्मिका शक्ति उस में सारे जगत्की कल्पना करती है। एक ही

स्यायेश्वरपदवाच्यो भवति, व्यष्टि-शरीराभिमानेन जीव इति उच्यते। शरीराभिमान एव माया अविद्येति वा कथ्यते। ब्रह्म तु जगत्साक्षी न तु नियामकम्। सर्वपदार्थनियामिका चिच्छक्तिरेव। चिच्छक्तिश्चेज्जगत्कार्यं न नियम्येत अन्योन्य-धर्म-सांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु विशृङ्खला चोत्पद्येत। परन्तु जगति सुष्ठु शृङ्खला परिलक्ष्यते, तस्या नियन्त्री चिच्छक्तिरेव। सा च चैतन्यस्य छायापातेन चेतनवत् क्रियाशीला भवति।

यथा भित्तौ प्रतिबिम्बग्राहिणी शक्तिर्न विद्यते किन्तु तत्र जलसिञ्चनेन सा प्रतिबिम्बधारणसमर्था भवति, तथा चिच्छक्तिः स्वयं जडस्वभावाऽपि ब्रह्मप्रतिबिम्बपातेन चेतनवत् कार्यकारिणी भवति तां शक्तिमाश्रित्य ब्रह्म ईश्वरपदवाच्यो भवति

माया समष्टि शरीर में अभिमान करके ईश्वर रूपसे कही जाती है और व्यष्टि शरीर में अभिमान करके जीव कहा जाता है। शरीर अभिमानको ही माया या अविद्या कहते हैं। ब्रह्म जगत्का साक्षी है, जगत्का नियामक नहीं है। सारे पदार्थोंका नियमन करनेवाली चित्शक्ति ही है। चित्शक्ति जगत्के कार्योंका नियमन नहीं करती हो तो एकके धर्म दूसरे में जाकर संकर उत्पन्न करके जगत्का महा अनर्थ होता था। और विशृंखला भी होती थी। परन्तु जगत् में अच्छी शृंखला दीखाई पडती है। उसका कारण नियमन करनेवाली चित्शक्ति ही है। वह चैतन्यकी छायापातसे चेतनके समान क्रिया करनेवाली होती है।

अनुवाद:—जैसे दिवाल में प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है परन्तु उसके उपर जल सिंचन करनेसे वह प्रतिबिम्ब धारण करनेवाली हो जाती है, वैसे ही चित् शक्ति खुद जड स्वभाववाली होनेसे भी ब्रह्मके प्रतिबिम्ब पडनेसे चेतनके समान कार्य करनेवाली होती है।

यथा एक एव पुरुषः पितामहदृष्ट्या पौत्रः पितृदृष्ट्या पुत्रः पुत्रदृष्ट्या च पिता भवति, तथा समष्ट्यभिमानेनैकमेव ब्रह्म ईश्वरः, व्यष्ट्यभिमानेन च जीव इत्युच्यते । पुत्रपौत्रादिदृष्टिं त्यक्त्वा यथा पिता पितामहादिभावो न सम्भवति शक्तिकोशाद्युपाधिं त्यक्त्वा तथैव ब्रह्म, न वा जीवो नेश्वरो भवति । न च सा शक्तिर्ब्रह्मणः पृथग्गृह्यते । यथा दाहिकाशक्तिरग्नेर्न पृथग्गृह्यते, तथा शक्तिब्रह्मणी न पृथग्गृह्येते । न चैषा ब्रह्मणोऽभिन्नेति वा वक्तुमर्हति, यतः प्रतिबध्यते । प्रतिबन्धश्चेदस्या न भवेत् । न कोऽपि मायाया मुच्येत । यथाऽग्निर्मन्त्रौषधिना प्रतिबद्धः सन्न दहति तथा महावाक्यादिशास्त्रीयोपायैर्माया

उस शक्तिका आश्रय करके ब्रह्मका नाम ही ईश्वर होता है । और कोषोंके आश्रय करके जीव नामसे कहा जाता है । जैसे एक ही पुरुष पितामहकी दृष्टि में पौत्र, पिताकी दृष्टि में पुत्र और पुत्रकी दृष्टिसे पिता होता है, वैसे ही समष्टि अभिमान करके एक ही ब्रह्म ईश्वर और व्यष्टि अभिमान करके जीव कहा जाता है । पुत्रपौत्रादि दृष्टिको छोडकर जैसे पिता, पितामह आदि भाव नहीं हो सकता, वैसे शक्ति और कोष उपाधिओंको छोडकर ब्रह्म, ईश्वर और जीव भी नहीं हो सकता । वह शक्ति ब्रह्मसे अलग नहीं है । जैसे दहन करनेकी शक्ति अग्निसे अलग नहीं हो सकती वैसे शक्तिको ब्रह्मसे अलग नहीं किया जा सकता । और ब्रह्मसे वह शक्ति अभिन्न है ऐसा भी नहीं बोला जा सकता क्यों कि शक्तिके प्रतिबन्ध होते हैं । उसके प्रतिबन्ध नहीं होते तो मायासे कोई मुक्त नहीं हो सकता और इस लिये शास्त्रकी प्रवृत्ति भी सब वृथा हो जाती थी । जैसे अग्नि मणि मंत्र और औषधिसे प्रतिबन्ध हो तो दहन नहीं कर सकता है, वैसे महावाक्य विचार आदिक शास्त्रीय

प्रतिबध्यते । ब्रह्म तु अप्रतिबध्यम् शक्तेरेव प्रतिबन्धः कल्पनीयः। कार्यमन्तरेण शक्तिर्न कुत्रापि दृश्यते। तत्र प्रतिबन्ध एव स्वीकरणीयः। यथा दाहनमेवाग्नेः कार्यं यत्र प्रज्वलितेऽपि अग्नौ तत्रस्थ शरीरादि न दह्यते तत्रोत्तम्भकमणिमन्त्रादिप्रतिबन्धः स्वीक्रियते इति।

सा च शक्तिर्मनुष्यादिषु चिच्छक्तिर्वायोः स्पन्दशक्तिः प्रस्तरेषु काठिन्यं, जले द्रवशक्तिरग्नौ दाहिका शक्तिराकाशेऽवकाशशक्तिर्ध्वंसे विनाशशक्तिरूपेण सर्वत्र विद्यते। सा च शक्तिर्यथाकाले देशे च बीजाङ्कुरादिवत् प्ररोहति। पुनर्वृक्षादिषु बीजवत् ब्रह्मण्येवावतिष्ठते। सा शक्तिर्ब्रह्मण आधारभूतस्य पृथक् विलक्षणा च। यथा दाहिका शक्तिस्तस्या

उपाय करके मायाकी निवृत्ति होती है। ब्रह्म में प्रतिबन्ध माना नहीं जा सकता। इस लिये शक्तिका ही प्रतिबन्ध (बाध) कल्पना किया जा सकता है। कार्यको छोडकर शक्ति कोई स्थान में दिखाई नहीं पडती। जहाँ शक्ति होते हुए भी कार्य नहीं होता है वहाँ प्रतिबन्ध स्वीकार करना पडता है। जैसे दहन करना ही अग्निका कार्य है। जहाँ प्रज्वलित अग्नि होते हुए भी अग्नि में खडा हुआ पुरुषके शरीरादि दग्ध नहीं होते वहाँ मणिमन्त्रादिक प्रतिबन्ध स्वीकार किया जाता है।

अनुवाद—वह शक्ति मनुष्यादिक में चित् शक्ति, वायु में स्पन्दशक्ति, पत्थर में काठिन्यशक्ति, जल में द्रवशक्ति, अग्नि में दाहिका शक्ति आकाश में अवकाश शक्ति और ध्वंस में विनाशशक्तिके रूप में सब जगह में रहती है। वह शक्ति उपयुक्त देशकाल पाकर बीजांकुरके तरह उगती है। फिर वृक्षादि में बीज जैसे रहता है वैसे ही ब्रह्म में जाकर ठहर जाती है। वह शक्ति उसके आधार ब्रह्मसे अलग और

आश्रयादङ्गारात् तस्याः कार्यात् स्फोटकाच्च विलक्षणा एव भवति तद्वत् । घटस्य स्थूलवर्तुलाद्याकारो न शक्तौ विद्यते, मृत्तिकाया शब्दस्पर्शाद्यपि गुणाः न शक्तौ विद्यते । अतो हि शक्तिरनिर्वचनीयेति कथ्यते । घटोत्पत्तेः प्राक् सा शक्तिर्मृत्तिकादौ गूढा तिष्ठति, कुम्भकारचक्रदण्डादियोगेन विकाराकारं भजते । स्थूलत्ववर्तुलत्वावपि घटस्य विकारौ शब्दस्पर्शादयस्तु मृद्विकाराः उभे मिथुनीकृत्य घट इति जनैर्व्यवह्रियते । कुम्भकारव्यापारात्प्राक् नैप घट उच्यते । नैप मृत्तिकाया भिन्नो यतो मृदि लीयते, न चाभिन्नो मृत्पिण्डादिदशायामदर्शनात् । अतो घटोऽपि शक्तिवदनिर्वचनीय एव । अव्यक्तावस्थायां शक्तिर्व्यक्तावस्थायां स एव घटः। आकाशादिपदार्थाश्च

विलक्षण है । जैसे दाहिका शक्ति उसके आधार अंगार (कौला) और उसका कार्य स्फोटकसे विलक्षण होता है वैसे ही शक्ति ब्रह्मसे अलग और विलक्षण है । घटका स्थूल वर्तुलादि आकार शक्ति में नहीं है । मृत्तिकाके शब्द स्पर्शादि गुण भी शक्ति में नहीं हैं। इस लिये शक्तिको अनिर्वचनीय कहते हैं । घट उत्पत्तिसे पहले वह शक्ति मृत्तिकादिक में छिपी हुई रहती है । कुम्हारके चक्रदण्डादिकके संयोगसे विकार आकार प्रगट होता है । स्थूलपणा और गोलपणा आदि घटके विकार हैं । लोग ये दोनोंको मिलाकर इसको घट कहते हैं । कुम्हार जबतक कोई प्रयत्न नहीं करता है तबतक उसको घट नहीं कहा जा सकता है । वह घट मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं क्यों कि मृत्तिका में उसका लय होता है और अभिन्न भी नहीं है क्यों कि अभिन्न होता तो मृत् पिंडों में घट दिखाई पडना था। इस लिये शक्तिकी न्याय घट भी अनिर्वचनीय है। अव्यक्त अवस्था में जिसको शक्ति कहता है; व्यक्त अवस्था में वह घट है।

घटवच्छक्तिकार्यत्वादनिर्वचनीयाः । इदमेवानिर्वचनीयत्वं वेदान्तेषु मिथ्येति परिभाष्यते । न तदसत् । असद्वन्ध्यापुत्रादिर्न दृश्यते, मायाकार्यं जगच्च दृश्यते, अतो नेदमसत् । बाध्यत्वान्न वा सत् । "सदसदादिरूपेण यन्न निरूपणार्हं तदेव मिथ्येति ज्ञेयं," आकाशादि पञ्चमहाभूतानि पञ्चकोषात्मकं शरीरं च तथैव मायाकार्यत्वान्मिथ्यैव । न सा शक्तिः शिवशक्तिवत्स्वतन्त्रा समसत्तावती वा ।

जडचेतनयोर्मध्ये चेतनं स्वप्रकाशत्वान्न पराधीनं (परसत्तायाः सत्तावत्) नापरभास्यं पराश्रितं च, किंतु जडं तद्विपरीतं, अतो जडचेतनयोः सत्ता न समा । चेतनमवस्था-

---

इस प्रकार आकाशादिक जितने पदार्थ हैं, वे भी शक्तिकार्य होनेसे सब घटकी तरह अनिर्वचनीय हैं । इस अनिर्वचनीयताको ही वेदान्तों में मिथ्या कहते हैं । यह असत् है क्यों कि असत् वन्ध्यापुत्रादिको कोई नहीं देखता है परन्तु मायाका कार्य जगत् दिखाई पडता है । इस लिये वह असत् नहीं है । और बाध होता है इस लिये वह सत् भी नहीं है । सत् असत् आदि रूपसे जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता है उसको ही मिथ्या कहते हैं । आकाशादि पञ्चभूत और पञ्चकोषात्मक शरीर वैसा ही मायाका कार्य होनेसे मिथ्या है । वह शक्ति शैवकी शक्तिकी न्याय स्वतन्त्र और सम सत्तावाली नहीं है ।

अनुवाद—जड और चेतन दोनोंकी बीच में चेतन स्वप्रकाश होनेसे पराधीन नहीं है । दूसरेकी सत्तासे सत्तावाला भी नहीं है । दूसरेसे इसका प्रकाश भी नहीं है । परन्तु जड इससे विपरीत है । इस लिये जड और चेतन दोनोंकी सत्ता समान नहीं हो सकती । चेतन अवस्थाका प्रकाशक है और निर्विकार है । और जड अवस्थाके भेदसे

प्रकाशकं निर्विकारं च, जडं अवस्थाभेदेन विकारवत्। यदि समा सत्ता स्वीक्रियते तदा प्रष्टव्यः, सा किं चेतनसत्ताया-भिन्ना तत्सदृशा तदन्तर्गता वा। एतेषां पक्षाणामेकपक्षोऽपि क्षोदक्षमो न विभाति। यतश्चेतनसत्ताया जडस्य सत्ता भिन्ना चेत्तस्य प्राकाश्यमेव न स्यात् चेतनसत्तारूपा चेन्न पृथग्भा-नम्। अन्तर्गता चेन्नोभयोर्भेदः। अतो जडचेतनयोर्न सम-सत्ता। चेतनाज्जडस्य सत्ता नाभिन्ना, आध्यासिकतादात्म्य-सम्बन्धेन चेतनाद्भिन्नरूपेण निर्दिश्यते। गत्यन्तराभावात्सापेक्षं जडं चेतनसत्तायोगेन सत्तावत्, तत्प्रकाशेन च प्रकाशितं न्यूनसत्ताकं चावश्यमेव स्वीकरणीयमिति। न्यूनसत्ताकत्वान्न चेतनाधिष्ठानस्य स्वरूपभूतं, यतोऽध्यस्तपदार्थादधिष्ठानं विषम-

---

विकारवाला है। दोनोंकी समान सत्ताका स्वीकार किया जाय तो पूछना चाहिये:—वह सत्ता चेतन सत्तासे भिन्न है, उसके सदृश है अथवा उसके अन्तर्गत है? इन पक्षोंके बीच में कोई पक्ष भी ठीक नहीं है। चेतन सत्ताकी साथ जड सत्ता भिन्न हो तो उसका बाध नहीं होगा। चेतन स्वरूप हो तो उसका अलग भान नहीं होगा। उसके अन्तर्गत हो तो दोनोंका भेद नहीं होगा। इस लिये जड और चेतन दोनोंकी समसत्ता नहीं हो सकती। चेतनसे जडकी सत्ता अभिन्न भी नहीं है। आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्धसे चेतनसे भिन्न रूप में इसकी प्रतीति होती है। इस लिये दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे सापेक्ष जडचेतन-सत्ताके योगसे सत्तावाला है, और उसके प्रकाशसे प्रकाशित है। और जडकी सत्ता चेतनकी सत्तासे थोडी है यह भी अवश्य स्वीकरणीय है। थोडी सत्तावाला होनेसे चेतन अधिष्ठानका स्वरूप भूत भी नहीं है क्यों कि अध्यस्त जो पदार्थ होता है उसको अधिष्ठानसे विषम सत्ता-

सत्ताकमेव भवति । चेतनस्य समसत्तावन्न किमपि द्रव्यं शक्तिरूपेण कल्पयितुमतः शक्यते ।

न वा सा शक्तिश्चेतनस्य धर्मः । स्वप्रकाशं चेतनं चेतस-धर्मकः स्यात्तस्य धर्मो जडोऽजडो वा स्यात् । उभयमपि न संगतम् । यतः स्वप्रकाशान्तर्गतं चेज्जडं, अस्वप्रकाशमिति न वाच्यं, यत्स्वप्रकाशं तन्न परप्रकाश्यं स्यात् न वा पराधीनं, जडस्य प्रकाशात्मकत्वं तु पराधीनमेव । यत्स्वयमेव पराधीनं तत्कथं स्वप्रकाशान्तर्गतं स्यात्? अतो जडं न स्वप्रकाशचेतनस्य धर्मः । विषय-विषयीभावसम्बन्धेनापि, चिज्जडयोर्धर्म-धर्मि-भावो न संगच्छते । जडं चेतनस्य विषयम् । विषयीभूतं तु न कदापि विषयिणः स्वरूपभूतं भवितुमर्हति, विषयश्चेद्विषयिणः स्वरूपभूतं स्यात्तस्य विषयत्वं हीयते । अतो जडं स्वप्रकाश-ज्ञानस्य न धर्म इति सिद्धम् ।

वाला ही दिखाई पडता है । इस लिये चेतनकी समसत्तावाली कोई भी द्रव्यशक्तिरूपसे कल्पना नहीं किया जा सकता है ।

वह शक्ति चेतनका धर्म भी नहीं है क्यों कि स्वप्रकाश चेतन धर्म-वाला हो तो उसका धर्म जड या अजड होगा । दोनों ही नहीं हो सकते क्यों कि जड स्वप्रकाशके अन्तर्गत हो तो उसको अस्वप्रकाश बोला नहीं जा सकता । जो स्वप्रकाश होता है वह दूसरेसे प्रकाशित नहीं होता, न कि पराधीन होता है । और जडका जो प्रकाश है वह पराधीन है । जो खुद ही पराधीन है वह स्वप्रकाशके अन्तर्गत कहाँसे हो सकता है । इस लिये जड स्वप्रकाश चेतनका धर्म नहीं है । विषय और विषयी भाव संबंधसे भी चित् और जडका धर्मधर्मीभाव नहीं हो सकते हैं । जड चैतन्यका विषय है । विषय विषयीके स्वरूपभूत भी नहीं हो सकता । विषय विषयीका स्वरूपभूत हो तो उसका विषयपणा ही नहीं बनेगा । इस लिये जड स्वप्रकाश ज्ञानका धर्म नहीं है वह सिद्ध हुआ ।

स्वप्रकाशो ज्ञानस्वरूपस्य धर्मः स्वप्रकाश इत्यपि न। यतः स्वप्रकाशं निरपेक्षं, तच्चेत्सापेक्षं भवेत्तस्य स्वप्रकाशत्वं न भवेत्। धर्मस्तु नियमेन सापेक्षो भवेत्। परस्परसापेक्षत्वाद्धर्म-धर्मिणोरुभयोः स्वप्रकाशत्वं न युज्यते। अतः यत्स्वप्रकाशं तन्न धर्मी धर्मो वा—निर्धर्मकमिति स्थितम्। निर्धर्मक इति शब्देन वास्तवधर्मो निषिध्यते न तु आरोपितधर्म इति बोध्यम्।

न वा सा शक्तिर्गुणः। द्रव्येण सहैकत्वमापन्नो गुणः प्रतीयते। गुणगुणिनोः सर्वदा पृथक्त्वं न सिद्ध्यति। शुक्लपट इत्यादिस्थले गुणगुणिनोः समानाधिकरण्यं प्रतीयते। नैप भ्रमः यतः, रूपादिगुणसाधकशुक्लपटादि प्रत्यक्षं गुणि तादात्म्यरूपेण गुणादिविषयकं स्यात्। स चेद्भ्रमस्तदा न गुणत्व-

---

स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपका धर्म स्वप्रकाश होगा—यह भी कहा नहीं जा सकता क्यों कि स्वप्रकाश निरपेक्ष है। वह सापेक्ष हो तो उसका स्वप्रकाशपणा ही नहीं रहेगा। और धर्म स्वभावसे सापेक्ष होता है। धर्म धर्मीकी परस्पर सापेक्षता रहनेसे दोनों स्वप्रकाश नहीं रह सकते। इस लिये जो स्वप्रकाश है वह धर्मी वा धर्म नहीं हो सकता अर्थात् स्वप्रकाश चेतन निर्धर्मक है यह सिद्ध हुआ। निर्धर्मक शब्दसे वास्तव धर्मका ही निषेध किया गया है, आरोपित धर्मका नहीं।

वह शक्ति गुण भी नहीं है। द्रव्यके साथ एक होकर गुणकी प्रतीति होती है। गुण और गुणीका अलगपणा हरवक्त सिद्ध नहीं होता। सफेद वस्त्र इत्यादिक स्थल में गुणीका समानाधिकरण्य प्रतीत होता है। इसको भ्रम नहीं बोल सकते हो क्यों कि रूप आदिक गुणका साधक सफेद वस्त्रादि गुणीके साथ तादात्म्य रूपसे गुणादि विषयक होता है, यह प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। इसको भ्रम माना जाय तो

सिद्धिः । यतः गुणमात्रगोचरप्रत्यक्षं न कुत्रापि दृश्यते । धर्मिणा सह गुणस्य प्रत्यक्षं स्यात् । अतः प्रत्यक्षं गुणिभेदो न सिध्यति । अतो गुणो न गुणिनो भिन्नः । न वाऽभिन्नः यतोऽभिन्नेन रूपान्तरं स्यात्, रूपान्तरे च नाभेदः ।

नाऽपि अभेदो नाम कश्चित्संबन्धः । अतो नोभयोर्भेदः । समानसत्ताकभेदाभेदपक्षोऽपि युगपन्नैकत्र स्थातुमर्हति । अत उभयोस्तादात्म्यसम्बन्ध एव स्वीकरणीयः । गुणे गुणिनस्तादात्म्यं विद्यते गुणिनस्तु गुणाभिन्नत्वं, परन्तु गुणिनोऽभिन्नं गुणस्य सत्त्वं विद्यते । यथा घटादिपदार्थः दण्डादिभ्यो यथा भिन्नस्तथा मृत्तिकादिभ्यः, किन्तु घटमृदोः भेदे वर्त-

---

गुणकी सिद्धि ही नहीं होगी क्यों कि गुणविषयक प्रत्यक्ष कभी भी दिखाई नहीं पडता । धर्मीके साथ गुणका प्रत्यक्ष होता है, इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे गुणीके साथ गुणका भेद सिद्ध नहीं होता । इस लिये गुण गुणीसे भिन्न नहीं है और अभिन्न भी नहीं है क्यों कि अभिन्न होता तो रूपान्तर नहीं होता था । और रूपान्तर होता तो अभेद नहीं होता ।

अभेद नामवाला कोई सम्बन्ध भी नहीं है । इस लिये दोनोंका भेद नहीं है । समान सत्तावाला भेद और अभेद पक्ष भी एक ही काल में एक ही स्थान में नहीं ठहर सकते, इस लिये दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करना पडता है । गुण में गुणीका तादात्म्य रहता है और गुणीके साथ गुणका अभिन्नपणा रहता है । परन्तु गुणीसे अभिन्न गुणका रहना मानना पडता है । जैसे घटादिक पदार्थ दण्डादिकसे भिन्न है वैसे मिट्टीसे भी भिन्न है । परन्तु घट और मिट्टी दोनों में भेद

मानेऽपि न तयोः सत्ता भिद्यते। अतो नैष भेदः सन्। यो भेदः सत्ताभेदकोऽसावेव सन्। यथा दण्डघटयोर्भेदः। मृत्तिकाघटादिषु तस्याभावान्नान्यत्वसिद्धिः।

उपादानोपदेयभावविचारेण उपादानात् कार्यस्य भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वा न निरूपणार्हमिति निश्चितं किन्तु उपादानसत्ताया भेदाभावादपि कार्ये भेद उपपद्यते। ईदृशस्थले तादात्म्यसम्बन्धो युज्यते। यतः सत्ता न भिद्यते, अतो भेदोऽनिर्वचनीयः। यदि कार्ये भेदो यथार्थो न स्यादुक्त-भेदसत्तावच्छेदकत्वात्कार्यकारणयोः सत्ता प्रभिन्ना स्यात्। अतोऽपि कारणाभिन्नसत्ताकत्वरूपं तादात्म्यं अयुक्तं स्यात्। अतो द्वयोरनिर्वचनीयत्वमपेक्षते। सच्चिदानन्दमेव यदि कार्यप्रपञ्चस्योपादानं कारणं स्यात्तदा तस्य कार्ये तद्भेदश्च सत्यः

होते हुए भी उनकी सत्ता में भेद नहीं होते हैं। इस लिये दोनोंका भेद सत् नहीं है। जो भेद सत्ताको भिन्न करनेवाला है वही सत् है। जैसे दण्ड और घटका भेद। मिट्टी और घट आदिक में उसका अभाव होनेसे दोनोंका अन्यपणा नहीं होता।

उपादान और उपादेय भावके विचारसे भी उपादानसे भिन्न कार्यका भिन्न और अभिन्न रूपसे निश्चय नहीं किया जा सकता। उपादान सत्ताके भेदका अभाव होनेसे भी कार्य में भेद हो सकते हैं। इस प्रकार इस स्थान में तादात्म्य–सम्बन्ध माना जाता है क्यों कि सत्ताके भेद नहीं होते हैं। इस लिये भेद अनिर्वचनीय है। कार्य में भेद यथार्थ होता तो दोनों भेदकी सत्ताका अवच्छेदक होनेसे कार्य और कारणकी

स्यात् । परन्तु कार्यकारणयोः कारणभिन्नसत्ताकत्वरूपानुभव-सिद्ध-तादात्म्यसिद्धये कार्ये तद्भेदे चानिर्वचनीयत्वमपेक्षते ।

उक्तानिर्वचनीयत्वनिर्वाहणाय कार्यप्रपञ्चोपादानं किञ्चि-दनिर्वचनीयमेवान्वेष्टव्यम् । अनिर्वचनीयोपादानत्वे सति कार्ये तद्भेदे चानिर्वचनीयता सम्भवति । सैवानिर्वचनीयाभावरूपा सत्ता मायेति कथ्यते । सा माया सर्वकार्यानुगतजाड्यरूपा, ज्ञानान्न भिद्यते । उक्तानिर्वचनीयं कारणं यद्यपि कार्यदृष्ट्या शक्तिरित्यभिधीयते, तथापि चेतनदृष्ट्या विचारिते सा चित्स्वरूपेति न कथंचन न भण्यते । यतो नैषा चेतनस्य समसत्तावती स्वरूपभूता वा । साऽनिर्वाच्या जडा च, तस्याः

सत्ता अलग होती थी । इस लिये कारण अभिन्न सत्तारूप–तादात्म्य अयुक्त है । इस लिये दोनोंकी अनिर्वचनीयताकी अपेक्षा है ।

कार्य प्रपञ्चोंका उपादान कारण सत्य हो तो उसका कार्य और उसका भेद सत्य होता । परन्तु कार्य और कारणका अभिन्नपणारूप अनुभव–सिद्ध, तादात्म्य–सिद्ध करनेके लिये कार्य और उसके भेद में अनिर्वचनीयताकी अपेक्षा है । उस अनिर्वचनीयताके निर्वाहके लिये कार्य प्रपञ्चका उपादान कुछ अनिर्वचनीय ही ढूंढना पडता है । उपा-दान अनिर्वचनीय होनेसे ही कार्य और उसके भेद में भी अनिर्वचनी-यता हो सकती है । उस अनिर्वचनीयताको ही भावरूप माया सत्ता कहते हैं । वह माया सर्व कार्यों में अनुगत जडतारूप अज्ञानसे भिन्न नहीं है । उस अनिर्वचनीय कारणको यद्यपि कार्य दृष्टिसे बोला जा सकता है (शक्ति कहा जा सकता है) । तथापि चेतन दृष्टिसे विचार करनेसे उसको चित् स्वरूप कोई प्रकारसे भी नहीं बोला जा सकता क्यों कि वह चेतनके समसत्ताशाली नहीं है और स्वरूपभूत भी नहीं

कार्यजातमपि जडम् । जडप्रपञ्चं चेतनस्यात्मभूतं, परिणामभूतं, अंशभूतं, विशेषणभूतं वा न स्यात् । अजडस्य स्वरूपं गुणो, विकारो धर्मो वा यतो न विद्यते, अतो जडपदार्थो नैव तत्त्वतः चेतनस्यान्तर्भूतः । अतः कार्यप्रपञ्चो मायापरिणामः चेतनस्य विवर्त इति प्रोक्तम् । ब्रह्मणः परिणामोपादानत्वमारम्भोपादानत्वं च न संगच्छते । परिणामोपादानत्वे वस्तुरूपान्तरं प्राप्नोति यथा दुग्धं दध्याकारेण परिणमते ।

न वाऽऽरम्भवादिनः कार्यवत् कारणाद् भिन्नं वा वर्तते । आरम्भवादी तन्तुकार्यं पटं तन्तोः पृथक् मन्यते । न तथा जगद्ब्रह्मणः पृथक् । अधिकन्तु साकारपदार्थस्यैव परिणामता आरम्भकता च सम्भवति, निराकारनिर्विकारत्वाद्ब्रह्मणः उभयकारणता न संगच्छते । अतो जगद्ब्रह्मणो विवर्त इति

है। वह अनिर्वचनीय और जड है। उसके जितने कार्य हैं वे भी जड हैं। इस लिये जड प्रपञ्च चेतनका आत्मरूप, परिणामरूप, अंशरूप, और विशेषणरूप नहीं हो सकता। अजड स्वरूप जो पदार्थ है उसको गुण विकार या धर्म नहीं होते। इस लिये जड पदार्थ चेतनके अंतर्भूत नहीं हो सकता। अतः कार्य प्रपञ्च मायाके परिणाम और चेतनका विवर्त कहा गया है। ब्रह्मका परिणाम उपादानपणा और आरम्भ उपादानपणा नहीं हो सकता क्यों कि परिणाम उपादान में वस्तु दूसरा रूप प्राप्त हो जाता है, जैसे दूध दही रूप में परिणत हो जाता है।

और आरम्भवादी जैसे कारणसे कार्यको भिन्न मानता है वैसा भी नहीं है। आरम्भवादी बोलते हैं:—तन्तुका कार्यपट तन्तुसे अलग नहीं है। और भी साकार पदार्थका परिणाम अथवा आरम्भ हो सकता है। निर्विकार निराकार ब्रह्मका दोनों ही नहीं हो सकते। इस लिये जगत्को ब्रह्मका

स्वीक्रियते । यथा रज्ज्वां सर्पः प्रतीयते तथैव ब्रह्मणि जगद्भासते । भानं प्रतीतिश्च पर्यायवाचकम् । यथा निरंशेऽप्याकाशे प्राकृता जना नीलिम संकल्पयन्ति तथा निरंशे आनन्दस्वरूपे ब्रह्मणि मायाशक्तिर्जगत् कल्पयति । मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरसंख्यं मिथ्या नामरूपं कल्पयति । स्वप्ने यथा निद्राशक्तिर्नाना असारां असम्भवां च सृष्टिं कल्पयति तथा मायाशक्तिर्ब्रह्मणि सकलं विकारात्मकं जगत् कल्पयति । यद्यपि आकाशादिपञ्चभूतानां चतुर्दशब्रह्माण्डानां शिलादिविकाराणां च जननी माया, तथापि प्राणिजातस्य बुद्धि-प्रतिबिम्बिता चिच्छाया चेतनं, शिलाद्याश्चाचेतनमिति कथ्यते। त्रिगुणात्मिका सा माया सत्त्वांशान्मायाशरीरं रजस्तमोंशाच्चाविद्याशरीरं कल्पयति । अविद्याशरीरावच्छिन्नचेतनं च जीव इत्युच्यते । सत्त्वगुणप्रधानत्वादीश्वरः स्वरूपं न विस्मरति माया तं विमो-

---

विवर्त माना जाता है। जैसे रज्जु में सर्पकी प्रतीति होती है वैसे ही ब्रह्म में जगत् भासता है। भान और प्रतीति दोनोंका अर्थ एक ही है। जैसे निराकार आकाश में मूर्ख लोग नीलिमाकी कल्पना करते हैं वैसे ही आनन्द-स्वरूप ब्रह्म में माया शक्ति जगत्की कल्पना करती है। मिट्टीकी शक्ति जैसे घट शराव आदिकी कल्पना करती है वैसे ही ब्रह्मशक्ति असंख्य नामरूपकी कल्पना करती है। स्वप्न में जैसे निद्रा शक्ति नाना किसीम असार और असम्भव सृष्टिकी कल्पना करती है वैसे माया शक्ति ब्रह्म में विकारात्मक सारे जगत्की कल्पना करती है। विद्या शरीर में अवच्छिन्न चेतनको ईश्वर; और अविद्या शरीर में अवच्छिन्न चेतनको जीव कहते हैं। सत्त्वगुण प्रधान होनेसे ईश्वर अपने स्वरूपको नहीं भूलता अर्थात् माया उनको भूला ही नहीं सकती।

हयितुं न शक्नोति जीवस्तु रजस्तमःप्रधानशरीरे आवद्धः सन् स्वात्मस्वरूपं विस्मृत्यात्मानं दीनं हीनं च मन्यते, भाग्यक्रमेण विद्याशरीरी कश्चिद्गुरुर्यदाऽधिगम्यते तस्मादुपदेशमादाय स्वस्वरूपं च ज्ञात्वा तत्प्रसादाद्विमुच्यते ।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता ईशसृष्टिः पूर्वमेवोक्ता इदानीमत्र जीवसृष्टिरुच्यते । ज्ञान-कर्मभ्यां जीवः सप्तान्नानि सृजति । तेष्वेकं मनुष्यान्नं, द्वे देवान्ने । एकं पश्वन्नं त्रीणि च निजान्नानि । तत्र धान्यादि मनुष्यान्नं, दर्शपूर्णमासे देवान्ने, दुग्धं पश्वन्नं, मनो वाक् प्राणाः त्रीणि आत्मान्नानि श्रुतौ प्रोक्तानि ।

यद्यप्येतानि ईशसृष्टानि तथापि जीवो ज्ञानकर्मभ्यां तेषु भोग्यतां प्राप्नोत् । यथा कन्या पितृजन्या अपि तु स्वामि-

---

परन्तु जीव रज तम प्रधान शरीर में आवद्ध होकर अपने स्वरूपको भूलकर अपनेको दीन हीन मानने लग जाते हैं । भाग्यक्रमसे विद्या शरीरवाला कोई गुरु उसको मिल जाय तो उनसे उपदेश पाकर अपने स्वरूपको जानकर गुरुप्रसादसे मुक्त होते हैं ।

ईक्षणसे लेकर सृष्टि में प्रवेश तक ईश्वरकी सृष्टि, पहले बोल आया हूँ। अब जीव सृष्टिको कहता हूँ। ज्ञान और कर्मसे जीव सात प्रकार अन्नको बनाता है । उस में मनुष्यका एक अन्न है । देवताके दो अन्न हैं। पशुके अन्न एक है और आत्माके तीन अन्न हैं । उस में धान्यादिक मनुष्य अन्न है । दर्श पूर्ण मास देव अन्न है, दुग्ध पशुका अन्न है । मन वाक् और प्राण ये तीन आत्माके अन्न हैं । श्रुति में इसका कथन किया है ।

यद्यपि ये अन्न ईश्वरने बनाये हैं तथापि जीव ज्ञान और कर्मसे उन में भोग्यत्व प्राप्त हुआ है । जैसे कन्या पितासे उत्पन्न होती है और

भोग्या भवति तथैव ईशसृष्टान्येतानि जीवभोग्यानि भवन्ति। मायावृत्त्यात्मकेश-संकल्पो यथा सृष्टेः साधनं तथा मनोवृत्त्यात्मकजीवसंकल्पो भोगसाधनमिति । ईशानिर्मितं भोग्यमेकरूपमपि भोक्तुः रुच्यनुसारेण भोग्यपदार्था बहुविधा दृश्यन्ते। यथा अन्नमेकरूपमपि भोक्तृ रुच्यनुसारेण सूपादिभेदेनोपयोगो भिद्यते । भोग्यवस्तुप्राप्तिः यद्यपि ज्ञानकर्मसापेक्षा, तथापि भोगविषये जीव-स्वातंत्र्यं विद्यते । एका स्त्री कस्यचिज्जननी, कस्यचित्स्वसा, कस्यचिद्दुहिता स्त्रीत्वेनैकरूपापि भोग्यत्वेन नानाविधा । भोग्यत्वप्रकारभेदेन न वस्तुभेदः इत्यपि न साधु । मांसमयी स्त्र्येकाऽपि मनोमयी स्त्री नाना । मांसमयी मूर्ति र्यद्यपि न कस्यचिद्बन्धाय भवति, तथापि मनोमयी मूर्ति-

---

स्वामी उसका भोग करता है वैसे ही ईश्वरसे बनाये हुए ये अन्न जीव भोग करता है । माया वृत्त्यात्मक ईश्वरका सङ्कल्प जैसे सृष्टिका साधन है वैसे ही मन वृत्त्यात्मक जीव सङ्कल्प भोगका साधन हैं। ईश निर्मित भोग्य एकरूप होते हुए भी भोक्ताकी रुचि अनुसार भोग्य पदार्थ बहुत होते हैं। जैसे अन्न एकरूप होते हुए भी भोक्ताकी रुचि अनुसार कोई मंड कोई सूप आदिक भेदसे उसको उपयोग करता है। भोग्य वस्तुको मिलना और नहीं मिलना यद्यपि ज्ञान कर्मकी अपेक्षा है तथापि भोग में जीवकी स्वतंत्रता है। एक ही स्त्री किसीकी मा, किसीकी लडकी, किसीकी बहन होती है। स्त्री रूपसे एक होते हुए भी भोग्यके भेदसे नाना प्रकार होती है। भोग्यत्वके प्रकारभेदसे वस्तुका भेद नहीं होता यह भी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य में स्त्री एक हुई भी मनोमयी स्त्री बहुत हैं। मांसमयी मूर्ति यद्यपि किसीके बन्धके कारण नहीं होती तथापि मनो मूर्ति बन्धके कारण होती है। मुशा में डाला हुआ तरल

बन्धाय भवति। मूषानिक्षिप्तद्रवसुवर्णादि यथा तद्रूपाकारेण परिणमते, रूपादिसम्बन्धेन द्रुतचित्तमपि तथैवाकारं भजते। बुद्धिस्थचिदाभास एवान्तःकरणवृत्तिरूपतां प्राप्य चक्षुरादीन्द्रियद्वारेण निर्गत्य बहिर्विषयपर्यन्तं गत्वा विषयावरणमुद्भाव्य तदाकारेणाकारितो भवति। एवं भूतबुद्धौ विषयस्य यः प्रतिबिम्बो भासते स एव मनोमयी मूर्तिः।

बहिर्घटादयश्च मृण्मया उच्यन्ते। एतावानेव तयोर्भेदः— मृण्मयो घटो बुद्धिस्थचिदाभासभास्यः प्रमाणवेद्यश्च मनोमयी मूर्तिस्तु साक्षिभास्य एव। तयोर्मनोमयी मूर्तिर्जीवस्य दुःखहेतुः, मांसमयी मूर्तिर्नैवम्। बहिः पदार्थाभावादपि जीवः स्वप्ने सुखदुःखान्यनुभवति किन्तु समाधिसुषुप्त्यादौ पदार्थानां बहिरविद्यमानत्वेऽपि न सुखं दुःखं वानुभवति। अतोऽन्वय-

---

सुवर्णादिक जैसे उसके आकार प्राप्त होता है वैसे रूपादिकके संबंधसे द्रवीभूत हुआ चित्त उस आकार में आकारित हो जाता है। बुद्धि में जो चिदाभास है वही अंतःकरणरूप प्राप्त होकर इन्द्रिय द्वारसे निकलकर बाहर में विषयतक जाता है। और विषयका आवरण भंग करके उसके आकार में आकारित होता है। इस प्रकार बुद्धि में विषयका जो प्रतिबिम्ब भासता है उसीको ही मनोमयी मूर्ति कहते हैं।

बाहिर में जो घटादिक हैं उनको मृण्मय कहते हैं। दोनों में इतना भेद है कि मृण्मय घट बुद्धि में जो चिदाभास है उससे प्रकाशित होता है और प्रमाणसे जाना जाता है। परन्तु मनोमय मूर्ति साक्षीसे प्रकाश्य है। उन में मनोमयी मूर्ति जीवके सुखदुःखके हेतु है। मांसमयी मूर्ति किसीके सुखदुःखका हेतु नहीं है। बाहिर में पदार्थ नहीं होते हुए भी जीव स्वप्न में सुखदुःखका अनुभव करता है परन्तु समाधि और सुषुप्ति

व्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते, मन एव सुखदुःखयोः कारणम् ।
ईशसृष्टं जगन्न केषांचिद् बन्धाय । अतोऽस्य विनाशाय न
प्रयत्नः कर्तव्यः, रागद्वेषाभिभूतः सन् यः शत्रुहननादिषु
यतते सोऽपि भ्रान्त एव । यतः कामादयोऽन्तः शत्रवो याव-
त्तिष्ठन्ति तावदन्तः शत्रव उत्पद्यन्ते विलीयन्ते च । अत ईश-
सृष्ट-द्वैत-नाशाय प्रयत्नो मोघ एव । पुरुषार्थत्वाभावात् । द्वैत-
पदार्थस्य मिथ्यात्वनिश्चय एव परमपुरुषार्थः । तत्सिद्धौ
बाह्यपदार्थे वर्तमानेऽपि चित्ते सुखं वा दुःखं न जनयति ।
ईशद्वैतविनाशेन चेत्केषां चिन्मुक्तिः सुषुप्तिमहाप्रलयादौ सर्वे
मुच्येरन् । गुरुशास्त्रज्ञानाभावान्न तदा द्वैतस्य मिथ्यात्वनिश्चया-

---

अवस्था में बाहिर में सारे पदार्थ होते हुए भी सुख और दुःखका अनुभव नहीं होता है । इस लिये अन्वय और व्यतिरेकसे जाना जाता है:— मन ही सुख और दुःखका कारण है । ईश्वरने बनाई हुई जो सृष्टि है वह किसीके बन्धके कारण नहीं है । इसके नाशके लिये भी प्रयत्न करना भी फजूल है । राग द्वेषादिसे पीडित होकर जो लोग शत्रु हननादि में यत्न करते हैं, वे भी भ्रान्त ही हैं क्यों कि कामादिक अन्तः शत्रु जबतक भीतर में हैं तबतक अनन्त शत्रु उत्पन्न होयेंगे और नाश भी होयेंगे इस लिये ईश्वरकी सृष्टिको नाश करनेका प्रयत्न फजूल है । उस में कोई पुरुषार्थ नहीं है । द्वैत पदार्थका मिथ्यात्व निश्चय ही परम पुरुषार्थ है । उसकी सिद्धिसे बाहिर में पदार्थ होते हुए भी चित्त में सुख और दुःख नहीं होते । ईश्वरसे बनाया हुआ द्वैतके विनाशसे किसीकी मुक्ति होती तो सुषुप्ति और महाप्रलयादिक में सब मुक्त हो जाते थे । गुरु और शास्त्रज्ञानके अभावसे उस अवस्था में किसीकी मुक्ति नहीं होती । द्वैतके मिथ्यात्व निश्चयसे ही मुक्ति होती है न कि द्वैतके

देव मुक्तिर्न तु द्वैतविनाशेनेति स्थितम् । ईशनिर्मितं द्वैतं मुक्तेः साधकम् न तु बाधकम् ।

जीवनिर्मितं द्वैतमेव मुक्तेर्बाधकम् । जीवद्वैतं तु शास्त्रीयाशास्त्रीयभेदेन द्विविधम् । आबोधाच्छास्त्रीयं द्वैतं सेवनीयं बोधात्परं तदपि हेयम् । अशास्त्रीयं द्वैतमपि मन्दतीव्रभेदेन द्विविधम् । तत्र कामक्रोधादयस्तीव्रा मनोराज्यं च मन्दम् । तत्त्वबोधात्प्रागुभयमेव हेयम् । कामादेः वर्तमानत्वे कोऽपि न मुच्यते । संकल्पादेव कामो जायते, संकल्पत्यागादेव तस्य क्षयः । संकल्पत्यागाय दीर्घप्रणवोच्चारणं, सविकल्पनिर्विकल्पसमाधेरभ्यासः, ईश्वरप्रणिधानं, ईश्वरभक्तिः, निष्कामकर्म च यथाशक्ति करणीयम् । गुरुसेवामन्तरेण कामादेर्न प्रतीकारो-

---

विनाशसे—यह बात सिद्ध हुई । ईश्वरसे बनाया हुआ जो जगत् है वह मुक्तिके साधक है न कि बाधक है ।

जीवसे बनाया हुआ द्वैत ही मुक्तिको बाधक है । जीवसे बनाया हुआ द्वैत शास्त्रीय और अशास्त्रीय भेदसे दो प्रकार हैं । जबतक ज्ञान नहीं होता तब तक शास्त्रीय द्वैतको सेवन करना चाहिये । बोध होनेके बाद उसको भी छोड देना चाहिये । अशास्त्रीय द्वैत भी मंद और तीव्र भेदसे दो प्रकारके हैं । उन में काम-क्रोधादिक तीव्र हैं और मनोराज मन्द है । तत्त्वबोधसे पहले दोनोंको ही त्यागना चाहिये । कामादिके वर्तमान होते हुए कोई भी मुक्त नहीं होता । संकल्पसे ही कामकी उत्पत्ति होती है । और संकल्पके त्यागसे ही कामका क्षय होता है । सङ्कल्प त्यागके लिये दीर्घ प्रणवका उच्चारण, सविकल्प निर्विकल्प समाधिका अभ्यास, ईशभक्ति, निष्काम कार्य अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये । जो गुरुसेवा नहीं करता है उसके कामकी निवृत्ति

पायः । तेनैवान्तःकरणस्य मलदोषो निवार्यते । दृश्यपदार्थ-मात्रमेवासदिति चिन्तया वासनात्यागाच्च शनैः शनैः मनो वशमभ्येति । पुनः पुनः विचारेण मिथ्यापदार्थे प्रयोजना-भावान्मनो विषयान् नैव काङ्क्षते कामादींश्च परित्यजति । भोगद-प्रबल-संस्कारवशाद्यद्यपि कदाचिद्विक्षिप्यति, दृढाभ्या-सात् अभ्यासजसंस्कारप्राबल्याच्च दुर्बलं प्रारब्धं जीत्वा चित्तचाञ्चल्यं क्षिणोति शान्तिकरी वृत्तिश्च वर्धते । यस्य विक्षेपो नास्ति स ब्रह्मरूप एव । अतो जीवद्वैतपरित्यागेन जीवस्य मुक्तिः ।

ननु कामादिमानसद्वैतत्यागेन यदि मुक्तिः स्यात् अलं विचारेण, योगेनापि तत्सिद्धेः । नैवं, योगस्तु मनोवृत्तिनिरो-

---

होना असम्भव है । उससे (गुरुसेवासे) अंतःकरणके मलदोषकी निवृत्ति होती है । जितने दृश्य पदार्थ हैं सब असत् हैं । इस प्रकार चिन्तासे और वासना त्याग देनेसे मन धीरे धीरे वश में आ जाता है । बारंबार विचारसे जब मिथ्या पदार्थका निश्चय हो जाता है तब प्रयो-जनके अभावसे मन विषयकी आकाङ्क्षा नहीं करता है और कामादिको भी छोड देता है । भोग देनेवाला प्रबल संस्कारके बलसे यद्यपि कभी भी विक्षेप प्राप्त होता है तब अभ्यास प्रबल हो जाय तो अभ्याससे उत्पन्न हुआ जो संस्कार है उस प्रबलताको हटाकर दुर्बल प्रारब्धको जीतकर चित्तकी चंचलताको क्षीण होने लग जाती है और शांति देनेवाली वृत्ति बढती है । जिसको विक्षेप नहीं है उसको ब्रह्मरूप ही जानो । अत एव जीव-द्वैत त्यागसे ही जीवकी मुक्ति होती है ।

शंकाः—कामादि मानस द्वैतको त्याग करनेसे यदि मुक्ति हो तो विचारकी जरुरत क्या है ? योगसे ही तो मन निरोध सिद्ध हो सकता है ।

धाय नात्यन्तिकदुःखनाशाय । प्राणायामौपधादिसेवनेनापि तात्कालिकदुःखनिवृत्तिर्भवति परन्तु महावाक्यविचारमन्तरेण केवलं निरोधोपायेन योगेन न तत्त्वज्ञानं सम्भवति । ये तु योगेन सह महावाक्यं विचारयन्ति तेषां तत्त्वज्ञानं मनोनाशेन च समं भवति । मानसिकं दुःखं न तान् पीडयितुमर्हति । मनोनाशमन्तरेण केवलतत्त्वज्ञानेनापि वर्तमानदेहे भोगद-कर्मणां सत्त्वात्प्रारब्धानुसारेण सुखदुःखानि निवर्तन्ते । अतो येन केनचिदुपायेन मानसिकद्वैतं निवर्त्य तत्त्वज्ञाने यत्नं कुर्यात् । वस्तुतन्त्रत्वात्तत्त्वज्ञानस्य न साधनापेक्षा । गुरुमुखा-न्महावाक्यश्रवणमात्रेणापि तत्त्वज्ञानं श्रूयते । पद-पदार्थस्य-ज्ञानाभावाद्विचारशक्तेर्दुर्बलत्वाच्च शतशः श्रुतमपि महावाक्यं

समाधानः—नहीं ऐसा नहीं है। योग तो मनकी वृत्तिको निरोधके लिये है। आत्यन्तिक दुःखोंका नाश नहीं हो सकता । प्राणायामसे अथवा औषधादिक सेवनसे भी तात्कालिक दुःखकी निवृत्ति होती है। परन्तु महावाक्यके विचार छोडकर खाली चित्तनिरोधरूप उपायसे तत्त्व-ज्ञान नहीं हो सकता। जो लोग योगके साथ महावाक्यके विचार करते हैं उनके तत्त्वज्ञान और मनोनाश एक साथ ही होते हैं। मानसिक दुःख उनको तपाई नहीं सकते। मनोनाशको छोडकर खाली तत्त्वज्ञानसे वर्तमान शरीर में भोग देनेवाला कर्म रहनेसे प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःखरूप फलका होना नहीं छूटता। इस लिये जो कोई उपायसे मान-सिक द्वैतको हटाकर तत्त्वज्ञानके लिये ही यत्न करना चाहिये। तत्त्वज्ञान वस्तुतन्त्र होनेसे अर्थात् वस्तुके अधीन होनेसे साधनकी अपेक्षा नहीं रखते। गुरुके मुखसे एक दफा महावाक्य सुनते ही किसी किसीको तत्त्वज्ञान सुना जाता है। परन्तु पद और पदार्थके ज्ञान नहीं होनेसे और विचार शक्ति दुर्बल होनेसे सैंकडों दफे सुना हुआ महावाक्य भी

तत्त्वज्ञानं न जनयति। पदपदार्थस्य ज्ञानं पूर्वमेवास्माभिरुदाहृतम्।

तेन तत्त्वंपदयोर्वाक्यार्थमवगम्य भागत्यागलक्षणया तत्पदस्योपाधिर्माया तत्कार्यं सृष्टिस्थिति-लयादि वाच्यार्थं, त्वंपदस्योपाधिरविद्या तत्कार्यं त्रिविधं शरीरं त्रिविधावस्थां च परित्यज्य उभयपदस्य लक्ष्यार्थे सच्चिदानन्दांशे एकता विधीयते। तदेव सच्चिदानंदरूपं सर्वत्र सर्ववस्तुनि अनुस्यूतत्वान्नामरूपपरित्यागेन तस्यैवानुसन्धानं करणीयं, तेन नामरूपे विलीयेते। नामरूपमेव संसारः। तयोरनादरेण असन् संसारोऽपि निवर्तते। नामरूपनिवृत्तेरुपायस्त्वत्र दीयते। (१) नामरूपयोः किमपि तत्त्वं न विद्यते। उत्पत्तेः प्राग्द्रव्यस्य नामरूपे

तत्त्वज्ञानको नहीं उत्पन्न कर सकता। पद और पदार्थोंका ज्ञान पहले ही हम लोग बोल आये हैं।

उससे तत् और त्वंपदोंका वाक्यार्थ जानकर भागत्याग लक्षणासे तत् पदकी उपाधी माया और उसकी कार्य सृष्टि स्थिति, लयादि वाच्यार्थ हैं। त्वम् पदका उपाधि अविद्या और उसके कार्य तीन प्रकार शरीर और तीन प्रकार अवस्थाओंको छोडकर दोनों पदोंके लक्ष्यार्थ में अर्थात् सच्चिदानंद अंश में एकताका विधान किया है। वही सच्चिदानंदरूप सर्वत्र हरेक वस्तु में अनुगत होनेसे वस्तुका नामरूप छोडकर सच्चिदानंदका ही अनुसंधान करना चाहिये। उस में नामरूप विलीन हो जायंगे। नामरूप ही संसार है। उसके अनादरसे संसार भी निवृत्त हो जाता है। नामरूप निवृत्तिके (त्यागनेके) उपाय यहाँ दिया जा रहा है। (१) नाम और रूपका कुछ भी तत्त्व नहीं है। उत्पत्तिसे पहले द्रव्यका कोई नामरूप नहीं होता है। व्यवहारकी सिद्धिके लिये मनुष्य

न विद्येते, व्यवहारसिद्ध्यर्थं नरो नामरूपे कल्पयति। व्यक्तिनाशेऽपि नाममात्रेणासौ परिचीयते। नाम्नासौ निरूप्यते, अतोऽव्यक्त इत्युच्यते। यथा घटो यदा उत्पद्यते तदा स्थूलवर्तुलाद्याकारोऽस्य जायते, वस्तुतः तेषां सत्ता न विद्यते ध्वंसात्पश्चादपि न स्थास्यति। अतो घट इति शब्दमात्रमेव जनैः कल्प्यते। तन्नाम च देशजात्यादिभेदेन भिद्यते। अतो व्यभिचारित्वान्मिथ्या तस्याधिष्ठानं मृत्तिका तु घटोत्पत्तेः प्राक् घटे वर्तमाने ध्वंसात्पश्चादपि वर्तते। अत आपेक्षिकसत्यता तस्या विद्यते; अर्थात्—यद्यप्येषा ब्रह्मवन्न सत्या तथापि सृष्टिपर्यवसायित्वादापेक्षिकं सत्यं तस्याः स्वीकरणीयम्। नामरूपे च प्रातिभासिकरज्जुसर्पवत्क्षणविध्वंसित्वान्मिथ्या।

नामरूप कल्पना करते हैं। व्यक्तिके नाश होनेसे पीछे भी वह नाममात्रसे ही परिचित होता है। और नामसे ही उसका निरूपण होता है। इस लिये इसको व्यक्त कहते हैं, जैसे, घट जब उत्पन्न होता है तब उसका स्थूल वर्तुलादि आकार होता है परन्तु उनकी कोई सत्ता नहीं होती। नाशसे पीछे भी वे नहीं रहेंगे। इस लिये घट शब्द मात्रसे ही लोग कल्पना करते हैं। उस नाम अर्थात् घट भी देश जाति आदिक भेदसे भिन्न होता है। इस लिये व्यभिचारी (कोई स्थान में होना कोई स्थान में नहीं होना) होनेसे मिथ्या है परन्तु उसका अधिष्ठान मिट्टी घट उत्पत्तिसे पहले, घट वर्तमान होते और घटके नाशसे पीछे भी रहता है। इस लिये उसकी आपेक्षिक सत्यता है अर्थात् यद्यपि वह ब्रह्मकी तरह सत्य नहीं है तथापि जबतक सृष्टि रहेगी तबतक उसकी सत्ता रहेगी। इस लिये आपेक्षिक सत्य है ऐसा मानना पडेगा। नाम और रूप जो हैं वे प्रतिभासिक होनेसे और रज्जु सर्पकी तरह क्षणक्षण में नाश होनेवाला होनेसे मिथ्या ही है।

ननु नामरूपे चेन्मिथ्या रज्जुदर्शने यथा सर्पभ्रमो निवर्तते तथा ब्रह्मज्ञानानन्तरं नामरूपनिवृत्तौ ज्ञानिनो व्यवहारोऽपि न सिद्ध्येत। परन्तु नैवं दृश्यते, अतो नामरूपे न मिथ्या नाम-नामिनोरभेदादुभयमपि सत्यमिति चेन्न।

नामरूपस्य सत्यत्वभ्रमनिवृत्तिरेवात्र मिथ्येति परिभाष्यते। निरुपाधिकभ्रमस्थले रज्ज्वादिस्वरूपबोधेन सर्पादिभ्रमो निवर्तते परन्तु सोपाधिकभ्रमे द्रव्यस्य सत्यत्वबुद्धिरेव निवर्तते न तु स्वरूपेणास्य निवृत्तिः। यथा, आकाशे नीलिमा नास्तीति विचारेण जानन्नपि ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा समं नीलिमा भासते तथा विचारेण नामरूपयोः सत्यत्वबुद्धिं विनापि जगद्व्यवहारो यथावत्प्रवर्तते।

शंका:—नामरूप मिथ्या हो तो रज्जुके ज्ञानसे जैसे सर्पकी भ्रान्ति दूर हो जाती है वैसे ब्रह्मज्ञान होनेके बाद नामरूपकी निवृत्ति होनेसे ज्ञानीके व्यवहारकी सिद्धि भी नहीं हो सकती, परन्तु ऐसा तो कोई स्थान में दिखाई नहीं पडता। इस लिये नामरूपको मिथ्या न कहकर नाम और नामीका अभेद होनेसे दोनोंको ही सत्य मानना चाहिये।

समाधान:—नामरूपका सत्यत्व भ्रांतिकी निवृत्ति ही मिथ्या नामसे कहा जाता है। जहाँ निरुपाधिक भ्रम होता है वहाँ द्रव्यकी सत्यत्व बुद्धि ही छूट जाती है। स्वरूप करके द्रव्यकी निवृत्ति नहीं होती। जैसे विचारसे जब माळूम होता है, आकाश में नीलिमा है नहीं, इस प्रकार जाननेवाला, नहीं जाननेवाला दोनोंको ही नीलिमा भासती है वैसे ही नामरूप मिथ्या होनेसे भी विचारसे उसका मिथ्यात्व निरूपण करके सत्यत्व बुद्धिको छोडकर भी जगत्‌का व्यवहार जैसेका वैसा चल सकता है।

॥ २ ॥ पटे चित्रमिव ब्रह्मणि नामरूपे अवतिष्ठेते, नामरूपे उपेक्ष्य ब्रह्मबुद्धिरेवावतिष्ठते । यथा स्वस्य मुखप्रतिबिम्बः जलस्थेऽधोमुखे दृष्टेऽपि तमुपेक्ष्य तीरस्थे स्वदेहे एव तात्पर्यमवधार्यते तथैव नामरूपे भासमानेऽपि उपेक्ष्य ब्रह्मण्येव तात्पर्यमवधारय ।

॥ ३ ॥ यथा सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमानेऽपि तदुपेक्ष्यते जनैस्तथा नामरूपयोरुपेक्षा करणीया ।

॥ ४ ॥ अस्ति भाति प्रियं नामरूपं चेति पंचांशाः सर्ववस्तुनि विद्यन्ते तेषु नामरूपे मिथ्या व्यभिचारित्वात् । परन्त्वव्यभिचारित्वात्सच्चिदानन्दस्वरूपं सत्यमेव । आकाशादिप्रपंचस्य नामरूपे सृष्टेः प्राङ्नासीत्, न वा ध्वंसान्ते

॥ २ ॥ पट में जैसा चित्र रहता है वैसे ब्रह्म में नामरूप रहता है। नामरूपको उपेक्षा करके ब्रह्मबुद्धि रहती है । जैसे अपने मुखके प्रतिबिम्ब जल में देखनेसे अधोमुख (नीचोंके तरफ) मालूम होता है, उसकी उपेक्षा करके तीर में खडा हुआ अपने देह में, जैसे लोग अपनेको नीचुके तरह नहीं मानते वैसे ही नाम और रूप भासते हुए भी उनको उपेक्षा करके ब्रह्म में तात्पर्य निश्चय करो ।

॥ ३ ॥ हजार हजार मनोराज हो रहे हैं । उपेक्षा करके जैसे लोग अपने मनोराजको अधीन नहीं होते वैसे ही नामरूपकी उपेक्षा करनी चाहिये ।

॥ ४ ॥ "अस्ति भाति प्रियनामरूप" ये पाँच अंश हरेक वस्तु में विद्यमान रहते हैं । उन में नाम और रूप अलग अलग होनेसे व्यभिचारी और मिथ्या है । परन्तु सत् चित् आनंदका कोई स्थान में भी व्यभिचार नहीं होनेसे सत्य है । आकाशादि प्रपंचोंके जो नाम रूप हैं

स्थास्यति, आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथेति न्यायेन ते नामरूपे रज्जुसर्पादिवन्मिथ्या, अनया दिशा वाय्वादिभूतानामपि नामरूपे मिथ्या । नामरूपयोरनन्तेऽपि सच्चिदानन्दरूपमेकमेव । तच्च मृत्तिकावत्सत्यं, तस्मिन्सच्चिदानन्दरूपे दृष्टे नामरूपे न तिष्ठतः । नामरूपयोरुपेक्षा यदा यदा क्रियते तदा तदा सच्चिदानन्दरूपं प्रकाशते, अतो ब्रह्मदृष्ट्या नामरूपे त्यजनीये, तत्कथनं तच्चिन्तनं तदालोचनं च ब्रह्माभ्यास उच्यते । दीर्घकालं निरन्तरं तपसा ब्रह्मचर्येण योऽभ्यस्यति तस्य वासनाः क्रमशो नश्यन्ति ।

यथा दर्पणे आकाशनक्षत्रमण्डलादि सर्वं प्रतिभासते दर्पणमदृष्ट्वा तु न ते दृश्यन्ते तथा सच्चिदानन्दघने आकाशादि सर्वं

वे सृष्टिके पहले भी नहीं थे । और उनके नाशके पीछे भी नहीं रहेंगे । जो पदार्थ आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी नहीं रहता है । इस न्यायसे वह नामरूप रज्जुसर्पकी न्याय ही मिथ्या है । ऐसा ही वायु आदि भूतोंका नामरूप भी मिथ्या है । नामरूप अनन्त होते हुए भी सत् चिदानंदरूप एकरूप ही है । वह मिट्टीकी तरह सत्य है । उस सच्चिदानन्दरूप में दृष्टि लगानेसे नामरूप नहीं रहते हैं । जब जब नामरूपकी उपेक्षा रहती है तब तब सच्चिदानन्दरूप भासने लग जाते हैं । अतएव ब्रह्मदृष्टिसे नामरूप छोडना चाहिये । ब्रह्मका ही कथन उसका ही चिंतन और उसका ही आलोचनको ब्रह्माभ्यास कहते हैं । बहुत दिनतक निरंतर तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य पालनसे जो इस अभ्यासको करता है उसकी वासना धीरे धीरे नाश हो जाती है ।

अनुवाद—जैसे शीशा में आकाश और नक्षत्रमण्डलादि सारे पदार्थ प्रतिफलित होकर प्रकाशते हैं, दर्पणको नहीं देखकर उस प्रपंचको

प्रतिविम्वते, सच्चिदानन्दमदृष्ट्वा तद्द्रष्टुं न शक्यते। नामरूपे परित्यज्य न तेषां काचित्सत्ता विद्यते। अतः सच्चिदानन्दरूपे मनो निवेश्य नामरूपयोस्तिरस्कारः कर्तव्यः। अनेन नाम-रूपयोर्लये सति "अहं ब्रह्मास्मीति" बोधो दृढो भवति। स एव तत्त्वसाक्षात्कारः॥ साधन-चतुष्टयसम्पन्नस्यैव तस्मिन्न-धिकारो नान्यस्य। अनधिकारिणां शतसहस्रकृत्वो महावाक्य-विचारं कुर्वतोऽपि न तत्त्वज्ञानं जायते। चित्तस्य भयं मोहः शोकः दुःखं वा न निवर्तते। अतः पूर्वमेव साधनानि यत्नेन सम्पादनीयानि। तत्र सदसद्वस्तुविवेकः, इहामूत्रफल-भोग-विरागः, शमादिसाधनषट्सम्पत्तिः, मुमुक्षुता चेति साधनचतु-

---

कोई नहीं देख सकता है, वैसे ही सच्चिदानन्द घन दर्पण में आकाशादि सब पदार्थोंका प्रतिबिम्ब भास रहा है; सच्चिदानन्द को नहीं देखकर उसको कोई नहीं देख सकता है। नामरूपको छोडकर उसकी और दूसरी कोई सत्ता भी नहीं है। इस लिये सच्चिदानन्दरूप में मनको लगाकर नामरूपका तिरस्कार करना चाहिये। इस प्रकारसे नामरूपका लय होनेसे "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार बोध दृढ होता है। इसका नाम ही तत्त्व साक्षात्कार है। जिसके पास साधन चतुष्टय हैं उसका ही उस में अधिकार है। दूसरोंके नहीं। जिसका अधिकार नहीं है वह सैंकडो दफे भी महावाक्यके विचार क्यों न करें, उसको तत्वज्ञान नहीं हो सकता और उसके भय, मोह, सुखदुःख आदि भी नहीं छूटते। इस लिये यत्नसे उन साधनोंको सम्पादन करना चाहिये। साधन चतुष्टय ये हैं:—(१) सत् असत् वस्तुविवेक (२) इहामूत्र फलभोग विराग (३) शमादिषट् सम्पत्ति (४) मुमुक्षुता—

साधन षट् सम्पत्ति ये हैं:—शम अर्थात् भीतरके इन्द्रियोंका निरोध,

ष्टयम् । साधनषट्सम्पत्तिस्तु शमः (अन्तरिन्द्रियनिरोधः) दमः (बहिरिन्द्रियनिरोधः) उपरतिः (अनासक्तिः) तितिक्षा (शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता) समाधानं (एकाग्रता) श्रद्धा (शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासः)। मनोनिरोधे सज्जनसङ्गः, सद्ग्रन्थपाठः, वासनात्यागः, प्राणायामाश्च प्रसिद्धा उपायाः, बहिरिन्द्रियाणां मध्ये वागुपस्थौ दुर्दमनीयौ । रसनाजयेन स्वादत्यागेन च तयोर्जयः सुसाध्यः ।

वैराग्यमन्तरेण शास्त्रमधीत्य न किंचित्फलमधिगम्यते, अतो वैराग्यहीनस्य शास्त्रचर्चा सज्जनसङ्गतिश्च भुक्तये न च मुक्तये । वैराग्योदये संन्यासं कृत्वा गुरुसन्निधौ महावाक्यं श्रुत्वा विचारयेत् । वैराग्यहीनस्य सज्जनसेवा विरक्तपुरुषस्य सङ्गः गुरूप-

---

दम अर्थात् बाहर इन्द्रियोंका निरोध, उपरति अर्थात् अनासक्ति, तितिक्ष अर्थात् शीत-उष्णादिके सहन, समाधान अर्थात् एकाग्रता और श्रद्धा अर्थात् शास्त्र और गुरुवाक्य में विश्वास । मनको निवृत्त करनेके लिये सज्जनोंका सङ्ग, सद्ग्रन्थोंका पाठ, वासनाका त्याग और प्राणायाम ये प्रसिद्ध चार उपाय हैं । बाहरे दस इन्द्रियोंके बीच में जिह्वा और उपस्थ ये दो बडी कठिनाईसे कबजे में आनेवाले हैं । रसनाको अर्थात् जिह्वाको संयम करनेसे और स्वाद छोड देनेसे उसका जय सुसाध्य होता है ।

अनुवाद—जब तक वैराग्य नहीं होता तब तक शास्त्र पढकर थोडा भी फल नहीं मिलता । इस लिये वैराग्यहीनकी शास्त्रचर्चा और सज्जनोंकी संगति खाली भोगके लिये ही होती है । मुक्तिके लिये नहीं । जब वैराग्य उदय होता है तब संन्यास लेकर गुरुके पास महावाक्य सुनकर उसका ही विचार करें । वैराग्य नहीं हो तो सज्जनकी सेवा, विरक्त पुरुषका सङ्ग और गुरु जैसा बतावें वैसा ही शक्ति अनुसार विचार करना चाहिये ।

दिष्टमार्गेण कर्तव्यः स्ववर्णाश्रमधर्मपालनेन श्रद्धया गुरुसेवनाच्च विषये वैराग्यं जायते। विचारेऽसमर्थस्य ॐकारोपासना कर्तव्या तस्मिन्नपि यो न समर्थः स गायत्रीं (द्विजश्चेत्) भगवन्नाम वा जपेत्। तेन सह सत्यं ब्रह्मचर्यं, दानं, दयां, परोपकारं, क्षमां, अक्रोधं, यथाशक्ति पालयेत् तस्मिन्नप्यनधिकारी गुरुमेव यावज्जीवं सेवेत। ज्ञानमन्तरेण न जन्मशतैरपि मुक्तिः सिध्यति। शिष्यप्रज्ञैव बोधस्यासाधारणकारणं, गुर्वादयस्तु तस्य सहायकाः।

ज्ञानस्य साधनानि गीतायां यथोक्तानि तथा सेवनीयानि। अमानित्वादीनि साधनत्वेनाध्यात्मिकरामायणेऽप्युक्तानि। अतो ज्ञानेप्सूनां तान्येवानुष्ठेयानि। यथा तस्य जीवश्च परमात्मा च

अपने वर्णाश्रमके पालन करनेसे तथा श्रद्धापूर्वक गुरुकी सेवा करनेसे विषय में वैराग्य होता है। विचार करने में जो असमर्थ है उसको ॐकारकी उपासना करनी चाहिये। उस में भी जो असमर्थ हो और ब्राह्मण आदि तीन वर्ण हो तो गायत्री जप करें और नहीं हो तो रुचिके अनुसार भगवत्नाम जप करें। उसके साथ सत्य, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दम, दया, परोपकार, क्षमा और अक्रोधको यथासाध्य पालन करें। उस में भी जो अनधिकारी है वह चीरजीवन गुरुकी ही सेवा करें बिना ज्ञानसे हजार हजार जन्म लेकर भी मुक्ति नहीं होती। शिष्यकी बुद्धि ही बोधके असाधारण कारण है। गुरु और शास्त्रादिक उस में सहायता करते हैं।

अनुवाद—ज्ञानके साधन अमानित्वादिक गीता में जो बताये हैं वैसे ही साधन करना चाहिये। आध्यात्मिक रामायण में भी इस प्रकार कहते हैं। इस लिये ज्ञानके लिये जिसकी इच्छा हैं उसको ऐसा ही अनुष्ठान करना चाहिये। रामजी कहते हैं:—"जीवके ज्ञानके लिये

पर्यायो नात्र भेदधीः ॥ मानाभावस्तथा दम्भहिंसादि परिवर्जनम् । पराक्षेपादिसहनं सर्वत्रावक्रता तथा ॥ मनोवाक्काय-सद्भक्त्या सद्गुरुपरिसेवनम् । बाह्याभ्यन्तरसंशुद्धिः स्थिरता सत्क्रियादिषु ॥ मनोवाक्कायदण्डश्च विषयेषु निरीहता । निरहंकारता जन्मजराद्यालोचनं तथा ॥ असक्तिः स्नेहशून्यत्वं पुत्रदारधनादिषु । इष्टानिष्टागमे नित्यं चित्तस्य समता तथा ॥ मयि सर्वात्मके रामे ह्यनन्या विषया मतिः । जनसंबाधरहित-शुद्धदेशनिषेवनम् ॥ प्राकृतैर्जनसंघैश्च ह्यरतिः सर्वदा भवेत् । आत्मज्ञाने सदोद्योगो वेदान्तार्थावलोकनम् ॥ उक्तैरेतैर्भवेज्ज्ञानं विपरीतैर्विपर्ययः । (अरण्यकाण्डे चतुर्थसर्गे ।)

मैं साधन बता रहा हूँ ।" तुम सुनो :—जीव और परमात्मा दोनों पर्याय-वाचक शब्द हैं । उस में भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिये । मानका अभाव, दंभ, हिंसादि, त्याग, दूसरोंको टोकना सहन, हरवक्त सरलता, मन, वाक्य और शरीरसे भक्तिके साथ सद्गुरुकी सेवा, बाहिर और अन्तरके शौच, सत्क्रिया में स्थिरता, मन वाक्य और शरीरका दंड और विषय में निरीहता (चेष्टारहित), अहम्कारका अभाव, जन्म मृत्यु आदिकके अस्थिरताका चिंतन, आसक्तिरहितपणा, पुत्र, दारा, धनादिक में ममता नहीं रखना, इष्ट और अनिष्ट दोनोंमें चित्तकी समता रखना, मैं सर्वात्मक जो राम हूँ उन में अनन्य भक्ति रखना, बहुत जन जहाँ इकट्ठे हो वहां नहीं जाना, शुद्ध देश में निवास करना, मूर्खका सङ्ग नहीं करना । आत्मज्ञानके लिये हरवक्त यत्न करना और वेदान्तोंका अवलोकन करना, ये सब ज्ञानके साधन हैं । उनसे ज्ञान होता है । इनके विपरीत चलनेसे ज्ञान नहीं होता ।

[अरण्यकाण्ड चतुर्थ सर्ग]

— ॐ तत् सत् —

योग और तत्त्वज्ञानके शुद्धिपत्र

पृष्ठः	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	४	का भी नाम	को भी ×
३	१५	ह्रोनेक	ह्रोनेक
३	२२	देवदूताके	देवहुतीके
४	२५	फिर क्या फिर	फिर क्या ×
५	२४	मन द्वैधी	मत द्वैधी
७	१८	अदिक	आदिक
९	१२	साधनको	साधकको
११	३	राति	रीति
११	२३	कमालासे	करमालासे
११	२६	निय जप	नित्य जप.
१२	६	विस्तारमें	विस्तार में
१२	२२	पेटको	पेटके
१३	१२	विथत	विघत
१६	५	भूमध्यसे	भ्रूमध्यसे
१७	१८	कार्यमें अनु–	कार्यमें कारण अनुस्यूत
१८	५	दृश्यको बोध	दृश्यको बाध
२३	१७	दैवं	देवं
२५	४	बोद्ध	बौद्ध
२८	५	आकाशादि नाम	आकाशादीनाम्
२८	७	सदाकाश	असदाकाश
२८	१८	अवश्य अनुवृत्ति	अवश्य असत्की अनुवृत्ति
३०	२	निमित्तकारणं । कुम्भकारो	निमित्तकारणं कुम्भकारो
३०	४	चानूस्यूतं	चानुस्यूतं
३०	२५	जगत्का उपादान	जगत्का स्वतंत्र उपादान
३१	२४	सद्रूपना	सद्रूपपना
३४	१४	चित् हो	चित् है

पृष्ठः	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	२३	स्वप्रकाशित	स्वप्रकाश
३५	१३	अप्रकाशपणा	स्वप्रकाशता...सकती
३६	५	श्रुत्यनुकूले न तयोः	श्रुत्यनुकूले तयोः
३८	३	तत्रोपेक्षते	तत्रोपेक्ष्यते
३९	१२	सब	जब
४४	१२	सुषुप्तिके पहले और पीछे	सुषुप्तिके पीछे
४८	२४	इत्यादिके	इत्यादिक
४९	८	शक्तिरनुभायते	शक्तिरनुमीयते
५०	४	प्राक् एकमेवा	प्राक् ब्रह्म एकमेवाद्वितीयं
५०	५	यथा	यथा
५१	२	स्वस्वभोगेभ्यः	स्वस्वभागेभ्यः
५२	४	सत्त्वज्ञान	स त्वज्ञानकल्पितः।
५५	११	उपेक्षितुः। स्वस्वरूप-	उपेक्षितुः स्वस्वरूप–
५६	१०	आत्मा आत्मत्वमा-	आत्मा तेषु आत्मत्वमा-
६०	२	देहेन्द्रियाभ्यो	देहेन्द्रियादिभ्यो मनः
६०	९	शक्तिरस्तु	शक्तिस्तु
६५	१३	यह असत् है	यह असत् नहीं है
६९	४	यतोऽभिन्नेन	यतोऽभिन्ने न
७१	७	ज्ञानाच्च	अज्ञानाच्च
७१	९	कथंचन न भण्यते	न कथंचन भण्यते
७१	२१	दृष्टिसे बोला जा	दृष्टिसे शक्ति बोला जा
७२	२२	तन्तुसे अलग नहीं है	तन्तुसे अलग है
७३	३	नीलिम संकल्पयति	नीलिमसं कल्पयति
७५	५	भेदेनोपयोगो	भेदेनोपभोगो
७५	२२	मनुष्यमें	रक्तमांसवाली
७५	२४	मनो मूर्ति	मनोमयी मूर्ति
७६	५	एवं भूतबुद्धौ	एवंभूतबुद्धौ

पृष्ठा:	पंक्तिः	अशुद्ध	शुद्ध
७६	१२	वहिरविद्यमान-	बहिर्विद्यमानत्वे
७७	१०	तदा द्वैतस्य	तदा मुक्तिः; द्वैतस्य
७८	१४	मुक्तिको	मुक्तिके
८०	७	दुःखानि निवर्तन्ते	दुःखानि न निवर्तन्ते
८०	१३	आत्यन्तिक दुःखोंका	उसे आत्यन्तिक दुःखका

प्रकाशक—श्रीमान-सा० रतीलाल वर्धमाण, पो. राणपुर, काठियावाड.
मुद्रक—के. ता. शेट्ये, तत्त्वविवेचक छापखाना, भायखला, बम्बई नं. ८

